(पच्चीस उच्चकोटि के काव्य शास्त्री निबन्धों का संग्रह)

राजनारायण मिश्र, एम० ए०

):—:(

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर
इलाहाबाद

नवीन भाव-बोध का स्फुरण करा सके तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

इस पुस्तक के अधिकांश अध्याय विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। संस्कृत के आकार ग्रन्थों से मुझे विषय-प्रवेश और उत्तरदायित्व-निर्वाह की सशक्त प्रेरणा मिली है। सुहृद्वर श्री व्यास नारायण भट्ट ने मेरी बिखरी हुई सामग्री का अवलोकन कर उसे—काव्याधार—का रूप दिया है। प्रोफेसर अवध बिहारी गुप्त ने अपना अत्यन्त ही उदार सहयोग, अस्वस्थ होते हुए भी इसके कुछ अध्यायों के 'प्रूफ'-देखने के रूप में प्रदान किया है।

बन्धुवर श्री शरच्चन्द्र शुक्ल, एम० ए० इस प्रकार के साहित्यिक अनुष्ठान के प्रधान पुरोधा हैं। मैं सब किसी के प्रति अपना अत्यन्त ही विनम्र और हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

ऐसे काव्यशास्त्रीय आधार सबको नई दृष्टि और नया सौन्दर्य-बोध देते रहें, यही कामना है। कहा भी गया है :—

"सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्।"

राजनारायण मिश्र, एम० ए०,
अध्यक्ष-(हिन्दी-विभाग)
साकेत-डिग्री कालेज
फैजाबाद।

८२३२

विषय-सूची

हैं। विश्वनाथ कविराज ने साहित्य-दर्पण में अलङ्कार को निम्न प्रकार से व्याख्या की है :—

> शब्दार्थ योरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
>
> रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्ते......

अर्थात् शोभा-वृद्धि करने वाले, रस-भाव आदि की उत्कृष्टता अधिक करने वाले शब्द और उनके अस्थिर धर्म को अलङ्कार कहते हैं।

इन सब परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अलङ्कार काव्य के अस्थिर धर्म हैं। यदि भाव सुन्दर हैं तो अलङ्कारों के बिना भी काव्य सुन्दर होगा। अलङ्कारधिक्य से काव्य की स्वाभाविकता और कोमलता नष्ट हो जाती है। आचार्य केशव ने भी अलङ्कार को काव्य का बहिरंग ही माना है—'भूषण बिन न विराजहो कविता, वनिता, मित्त' अलङ्कार का प्रधान उद्देश्य भावों को सजीवता प्रदान करना और भाषा को चमत्कृत करना है। जिस प्रकार शरीर के लिए आत्मा और सुन्दरता दोनों आवश्यक है उसी प्रकार काव्य के लिए रस और अलङ्कार की आवश्यकता है।

(ख) काव्य की आत्मा तथा तत्संबंधी विवाद

काव्य की आत्मा को लेकर संस्कृत के आचार्यों ने विशेष रूप से विचार विमर्श किया है। इस सम्बन्ध में प्रायः पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है—रस-सम्प्रदाय, अलङ्कार-संप्रदाय, रीति-संप्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और ध्वनि-संप्रदाय। काव्य के किसी अंग-विशेष पर ही बल देने के कारण इन विभिन्न संप्रदायों की सृष्टि हुई है।

(१) रस संप्रदाय—ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व आचार्य भरत मुनि ने इसका प्रवर्तन किया है। उनके अनुसार रस ही काव्य का प्रधान उद्देश्य है, इसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और सचारी भाव के संयोग से होती है। विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।' ना० शा०। काव्य रसहीन नहीं होना चाहिए।

"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते इति।" (ना० शा० ६।३२)

भरत मुनि के पश्चात् ६ वीं शती तक प्रायः इसकी उपेक्षा रही। दसवीं शती में अभिनव गुप्त ने भरत मुनि का समर्थन कर रस-संबंधी सूत्रियों की सुव्याख्या और १२वीं शती में विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा घोषित कर रस-मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की। हिन्दी के रीति-कालीन आचार्य देव, पद्माकर मतिराम, रसाल आदि इसी से प्रभावित हैं।

(२)अलंकार-संप्रदाय—इसके प्रवर्त्तक आचार्य भामह है
६ठी या ७वी शती निश्चित हुआ है। स्वय भामह ने अपने पूर्व रा
मेधावी आदि का उल्लेख किया है, किन्तु उनका कोई प्रमाण नही
भामह के टीकाकार उद्भट ने उनका समर्थन किया। फिर दण्डी, रुद्रट
प्रतिहारेन्दुराज आदि अनेक विद्वानो ने उनका अनुगमन किया। दण्डी का
है कि 'काव्य का पोषण करने वाले अगो को अलङ्कार कहना चाहिए।' भाव
भामह के 'पुनःक्वापि' पर टीका करते हुए चद्रालोककार जयदेव ने कहा है
'जो लोग काव्य को अलङ्कार-हीन शब्द और अर्थ वाला मानते हैं वे यह क्यो
नही मान लेते कि अग्नि अनुष्ण-ठडी भी होती है—

अगीकरोतियः काव्य शब्दार्थवनल ङ्कृती ।
असौ न मन्यते 'कस्मादनुष्णा मनलङ्कृती ॥

अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यो ने अलङ्कारो को व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया
है। ये कविता के बहिरग हो नही हैं, अन्तरग भी हैं, काव्य को रोचक बनाने
वाले उसके आन्तरिक धर्म भी हैं। आचार्य भामह ने कहा है "सुन्दर होते हुए
भी आभूषणो के बिना वनिता का मुख शोभा नही देता है।,

'न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिता मुखम्।'

—काव्यालङ्कार १।१३

आगे चलकर केशवदास ने भी यही लिखा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न विराजई, कविता, वनिता, मित्त ॥

कवि प्रिया ५।१

काव्य की ग्राह्यता आचार्य वामन के अनुसार अलङ्कारो के कारण है।

'काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्'

आचार्य वामन ने शोभा का कारण गुणो को बतलाया है और शोभा
ो बढ़ाने वाले तत्त्व अलङ्कार है।

काव्य शोभायः कर्तारो धर्मागुणाः ।
तदतिशय हेतवस्त्वलङ्काराः ॥

ईसा की १७हवीं शती में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रस गगाधर' में इसका
विवेचन किया, बस, यही अलकार शास्त्र का अन्तिम ग्रंथ है। आचार्य रुय्यक
ा सम्प्रदाय के आचार्यों के मतो का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—

"अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मत.।"

(अलकार सर्वस्व)

जैसे—सरस शैली, मधुर शैली, ललित शैली, क्लिष्ट या विदग्ध शैली, उदात्त शैली, व्यंग्य शैली, आदि के उदाहरण सरलता से उपलब्ध हैं।

शैली से सम्बन्धित गुणों का विवेचन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। आनन्द वर्धन ने गुण को काव्य का धर्म माना है। यों तो काव्य के तीन गुण विख्यात हैं :—ओज, प्रसाद और माधुर्य; किन्तु इसी सन्दर्भ में दस गुणों का उल्लेख किया गया है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः।
माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्॥
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च।
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥ —भरत मुनि।

आचार्य वामन ने काव्यात्मा रीति मानी है, गुणों को रीति का धर्म कहा है। आनन्द वर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, आदि आचार्यों के मत से ये गुण रस के धर्म हैं क्योंकि रस अंगी है। इस प्रकार आगे चलकर गुण अंगी का धर्म माना लिया गया, अंग का नहीं।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय :—वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इस शब्द का प्रयोग कादम्बरी में 'परिहास जल्पित अर्थ' के रूप में हुआ है। 'अमरुक शतक' में इसका प्रयोग व्यंग्य गर्भित उक्ति के रूप में किया गया है। भामह ने इसका प्रयोग 'वाचामलङ्कृति' के रूप में कर इसे सभी अलंकारों का मूल माना है। दण्डी भी वक्रोक्ति को व्यापकता सभी अलंकारों में मानते हैं। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना और वामन ने उसे अर्थालंकार। ११वीं शताब्दी में आचार्य कुन्तक ने सब का निषेध कर 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवन घोषित किया। 'वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवनम्।' वचन वक्रता कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। यह वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक में व्याप्त है। आचार्य कुन्तक ने इसी आधार पर इसके छः भेद किए हैं :—(१) वर्ण-विन्यास वक्रता, (२) पद पूर्वार्द्धवक्रता (३) परार्द्धवक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण वक्रता (६) प्रबंध वक्रता। प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक के मत का निरादर किया है और इसे इस रूप में स्वीकार नहीं किया है।

वस्तुतः ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा और रीति सिद्धान्त में गुण के धर्म रूप में समन्वय हो जाने पर अलंकार सिद्धान्त को अपदस्थ होना पड़ा। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के अतिरिक्त और सबको अलङ्कृति न मानकर अलंकार्य या विषय मान लिया और उसे काव्य का जीवन स्वीकार किया। काव्य के अन्तर्गत आए हुए समस्त चमत्कार वक्रोक्ति की परिधि में आ गए। सिद्धान्त रूप में इसका विवेचन करने वाले आचार्य कुन्तक ही हैं। पाश्चात्य विचारकों ने भी

(३) रीति सम्प्रदायः—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं, जिन्होंने, 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' और 'रीतिरात्मा काव्यस्य।' कहकर काव्य को एक निश्चित रूप में बाँध दिया है। आचार्य वामन के यहाँ भी रीति-परम्परा अलङ्कार-परम्परा के समानान्तर चलती रहती है। रीति के स्रष्टा आचार्य दण्डी ही थे। उन्होंने रीति का गुणों से समन्वय कर 'वैदर्भ मार्ग' की ओर संकेत किया है। 'इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।' रीति का सामान्य अर्थ है—मार्ग, पन्थ, पद्धति, प्रणाली, शैली आदि। इसे अलङ्कार आचार्य और रस-ध्वनि-वक्रोक्ति के अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ ने इसे "उपकर्त्री रसादीनाम्।' कहा है। वास्तव में इनका सबंध उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम की साहित्यिक शैलियों से है। वामन ने गुणों के आधार पर इसके तीन भेद किए हैं :—

वैदर्भी—यह विदर्भादि देश (बरार) में प्रचलित रीति है। यह समग्र गुणों से युक्त होती है।

गौडीय रीति—ओज कान्तिमयी होती है। इसमें मधुरता और सुकुमारता की कमी होती है। यह समास बहुला तथा उग्र पदों वाली है। गौड प्रदेश (बंगाल) में यह प्रचलित थी।

पाँचाली रीति—यह मधुरता और सुकुमारता से युक्त होती है, इसे ही सुकुमार मार्ग कहा गया है। पाचालादि प्रदेशों (पंजाब) की यह साहित्यिक शैली थी।

आचार्य रुद्रट ने समास के आधार पर इसके चार भेद माने हैं :—

(१) वैदर्भी—समास-रहित शैली।
(२) पाचाली—लघु समास वाली।
(३) लाटीय—मध्यम समास वाली।
(४) गौडीय—दीर्घ समास वाली शैली।

प्रथम दो माधुर्य और सुकुमार मार्ग के अन्तर्गत है और अन्तिम दो उग्र मार्ग से संबंधित हैं।

आचार्य कुन्तक ने गुणों के आधार पर इनका विभाजन किया है, भौगोलिक सीमाओं के आधार पर नहीं। यही उनकी इस सबंध में महत्वपूर्ण देन है। हिन्दी-साहित्य में रीति संबंधी यह मान्यता स्वीकार नहीं की गई है। 'रीति' का तात्पर्य 'शैली' विशेष से है जिसका वैज्ञानिक विवेचन हिन्दी-साहित्य में अवश्य हुआ है।

जैसे—सरस शैली, मधुर शैली, ललित शैली, क्लिष्ट या विदग्ध शैली, उदात्त शैली, व्यंग्य शैली, आदि के उदाहरण सरलता से उपलब्ध हैं।

शैली से सम्बन्धित गुणों का विवेचन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। आनन्द वर्धन ने गुण को काव्य का धर्म माना है। यों तो काव्य के तीन गुण विख्यात हैं :—ओज, प्रसाद और माधुर्य; किन्तु इसी सन्दर्भ में दस गुणों का उल्लेख किया गया है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः।
माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्॥
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च।
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥ —भरत मुनि।

आचार्य वामन ने काव्यात्मा रीति मानी है; गुणों को रीति का धर्म कहा है। आनन्द वर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, आदि आचार्यों के मत से ये गुण रस के धर्म हैं क्योंकि रस अंगी है। इस प्रकार आगे चलकर गुण अंगी का धर्म माना लिया गया, अंग का नहीं।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय :—वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इस शब्द का प्रयोग कादम्बरी में 'परिहास जल्पित अर्थ' के रूप में हुआ है। 'अमरुक शतक' में इसका प्रयोग व्यंग्य गर्भित उक्ति के रूप में किया गया है। भामह ने इसका प्रयोग 'वाचामलंकृति' के रूप में कर इसे सभी अलंकारों का मूल माना है। दण्डी भी वक्रोक्ति की व्याप्तता सभी अलंकारों में मानते हैं। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना और वामन ने उसे अर्थालंकार। ११वीं शताब्दी में आचार्य कुन्तक ने सब का निषेध कर 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवन घोषित किया। 'वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवनम्।' वचन-वक्रता कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। यह वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक में व्याप्त है। आचार्य कुन्तक ने इसी आधार पर इसके छः भेद किए हैं :—(१) वर्ण-विन्यास वक्रता, (२) पद पूर्वार्द्धवक्रता (३) परार्द्धवक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण वक्रता (६) प्रबंध वक्रता। प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक के मत का निरादर किया है और इसे इस रूप में स्वीकार नहीं किया है।

वस्तुतः ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा और रीति सिद्धान्त में गुण के धर्म रूप में समन्वय हो जाने पर अलंकार सिद्धान्त को अपदस्थ होना पड़ा। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के अतिरिक्त और सबको अलंकृति न मानकर अलंकार्य या विषय मान लिया और उसे काव्य का जीवन स्वीकार किया। काव्य के अन्तर्गत आए हुए समस्त चमत्कार वक्रोक्ति की परिधि में आ गए। सिद्धान्त रूप में इसका विवेचन करने वाले आचार्य कुन्तक ही हैं। पाश्चात्य विचारकों ने भी

अपने सिद्धान्तों मे वक्रोक्ति को महत्वपूर्ण स्थान दिए हैं।

मध्यकाल की रीति कालीन कविता मे इसके पर्याप्त कोमल और ललित उदाहरण प्रस्तुत किए गए, किन्तु इस साहित्य के रचयिता प्रधानतः कवि ही रहे, आलंकारिक नही हो सके। उनमें हृदय पक्ष की प्रधानता तो रही, किन्तु विचार पक्ष का विशेष रूप से अभाव ही रहा। हिन्दी के अधिकांश कवियों ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के अन्तर्गत ही माना है। आचार्य केशव दास में अवश्य आचार्यत्व की मात्रा अधिक है। उन्होने भी केवल युक्ति वैचित्र्य के रूप में ही इसका विवेचन किया है. कुन्तक की व्यापक वक्रोक्ति की मान्यता को उन्होंने भी स्वीकार नही किया है। हिन्दी के लक्ष्य ग्रन्थो की ओर यदि दृष्टि डाली जाय तो अर्थालङ्कार मानने वाले कवि भी केवल उसे उक्ति वैचित्र्य तक ही सीमित कर देते हैं। हिन्दी कवियो मे सूरदास को वक्रोक्ति का सम्राट् माना जाता है। निश्चय ही आचार्य कुन्तक ने भामह के जिस बीज रूप वक्रोक्ति को पल्लवित किया, उनके आगे के आचार्यों ने उसे उस रूप मे स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि ध्वनि सम्प्रदाय की विस्तृत परिधि में इसे भी सीमित हो जाना पड़ा।

(५) ध्वनि सम्प्रदाय :—इस सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटकों के सम्बन्ध में ही प्रस्तुत किया गया है और ध्वनि-मत उसी रस-मत का विस्तृत रूप है। आचार्य आनन्द-वर्धन ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बताया कि रस कभी वाच्य नही होता, व्यंग्य ही हुआ करता है। ध्वनि शब्द आलङ्कारिकों को वैयाकरणों से प्राप्त हुआ है। व्याकरण में ध्वनि से तात्पर्य है, स्फोट रूप से मुख्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली। आचार्य प्रवर ने व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक सिद्ध की। उन्होंने अभाववादी, भक्तिवादी, रीतिरंगनीय वादी मतों का समुचित रूप से खंडन किया और उसे तीन भागों में बांट दिया—रस, वस्तु तथा अलङ्कार। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति।' ध्वनि व्यंग्यार्थ पर निर्भर है, व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर निर्भर करता है। इसी आधार पर काव्य का भी विभाजन किया गया है—ध्वनि काव्य, गुणी भूतकाव्य और अवर। जिसमें वाच्यार्थ मे व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार पूर्ण होता है वह ध्वनिकाव्य है। यही उत्तम काव्य माना जाता है। जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण या कम चमत्कारक होता है, वहाँ गुणीभूत काव्य माना जाता है। यह मध्यम काव्य है, जहाँ पर व्यंग्यार्थ नहीं होता, वह साधारण या अवर काव्य माना जाता है। इस मत के समर्थक विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ भी हैं।

विशेष—स्थायी भाव और रस में अन्तर है। स्थायी भाव का संयोग जब तक विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से नहीं होता है तब तक वह स्थायी माना जाता है, रस नहीं।

(२) स्थायी-भाव की चार विशेषताएँ होती हैं—वह (१) अपने में अन्य को लीन कर लेता है, (२) सजातीय तथा विजातीय भावों से नष्ट नहीं है, (३) विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से पुष्ट होकर रस में बदल जाता) वह वासना रूप से मन में रहता है और आस्वाद का मुख्य कारण है।

स्थायी भाव के भेद :—

(१) रति—इसका अर्थ है—प्रेम, अनुराग, प्रीति, आसक्ति, रमण, आदि। किसी अनुकूल विषय में मन की प्रेम-पूर्ण रुझान को रति कहते द्माकर ने 'जगद्विनोद' में लिखा है :—

सुप्रिय चाह ते होत जो, सुमन अपूरब प्रीति।
ताही को रति कहत हैं, रस-ग्रन्थन की रीति॥

कवि देव ने लिखा है :—

'नेक जो प्रिय जन देखि कै आन भाव चित होय।
सो तासों रति भाव है, कहत सुकवि सब सोय॥'

विशेष—रति का संबंध केवल स्त्री और पुरुष के प्रेम से ही होता है, -पिता, भाई बहन, गुरु देवता और पुत्र आदि के प्रेम से नहीं।

(२) हास—ऐसा आनन्द पूर्ण मनोविकार जो विकृत वचन, आकृति कार्य आदि के देखने से उत्पन्न होता है और जिससे हँसी उत्पन्न हो जाती है हास है। यह 'हास्य' तीन प्रकार का होता है—(१) उत्तम, (२) मध्यम, अधम। उत्तम हास्य के अन्तर्गत स्मित (नेत्र-विकास, होंठ फड़कना), (दांत का थोड़ा दिखाई देना) आते हैं। मध्यम के अन्तर्गत विहसित (र शब्द) और उप या अवहसित (कंधे, सिर आदि में कंपकंपी) आते हैं। के अन्तर्गत अपहसित (आँखों में पानी आना) और अति-हसित (हाथ-टकना) आते हैं।

विशेष—हास्य का विस्तृत विवेचन अन्य लक्षण-ग्रन्थों में किया है।

(३) शोक—प्रिय वस्तु, वैभव तथा इष्ट जनों के नाश-जनित हृदय की वेकलता को शोक कहते हैं। वियोग से उत्पन्न दुःख शोक नहीं माना जाता है विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आता है।

कारी होते हैं, यदि नाटक और काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी हैं। य
विभावादि की सहायता से जो स्थायी भाव स्पष्ट होता है, वहाँ इन भावों
से पुष्ट होकर 'रस' कहा जाता है।

इस प्रकार स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी ही रस के अंग
कहे जाते हैं।

स्थायी भाव—मन में किसी विकार को भाव कहते हैं। अन्तःकरण
में कुछ भाव सदा मन में सदैव वर्तमान रहते हैं। अनुकूल अवसर प्राप्त होने
पर वे जागरित हो उठते हैं। जिस भाव की स्थिति देर तक हृदय में बनी रहती
रहती है, जो अन्य भावों को दबाकर मुख्य भाव बन जाता हो तथा जिसे पुष्ट
करने में अन्य भाव भी सहायक बनें, किन्तु मुख्य भाव को बदल न सकें उसे
स्थायी भाव कहते हैं। भरतमुनि ने लिखा है :—

> 'यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
> एवं हि सर्व भावानां भावः स्थायी महानिह ॥

यद्यपि हृदय की सभी भावनाओं को निश्चित करना कठिन है तथापि
कुछ ऐसी स्थायी मनोवृत्तियाँ हैं जिनके नाम निश्चित कर दिये गये हैं। स्थायी
भावों की संख्या नौ मानी गई है :—

(१) रति, (२) शोक, (३) क्रोध, (४) उत्साह, (५) हास, (६) भ
(७) विस्मय, (८) घृणा, (९) निर्वेद।

इन नौ भावों का संबंध जीवन की दो प्रधान प्रवृत्तियों से भी है। ए
निवृत्ति और दूसरी प्रवृत्ति। प्रवृत्ति के दो रूप हैं—(१) ममता, (२) अहंभा
ममता का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। यह भाव जड़ और चेतन के प्रति भी
—कता है। चेतन के प्रति ममता का भाव श्रद्धा, वत्सलता, प्रेम और रति
..ा रूप धारण करता है। अहम् को प्रेरणा अनुकूल और प्रतिकूल अवस्था
..ु संबद्ध है अनुकूल स्थिति में उससे माधुर्य प्रकट होता है जो शृंगार और ह
का उद्बोधक है; किन्तु विकास की अवस्था में उससे अद्भुत और वीर रस
भी निष्पत्ति होती है।

'अहम्' के प्रतिकूल होने से दीप्ति और संकोच का भाव प्रकट हो
जिसमें बीभत्स और रौद्र रस की सृष्टि होने लगती है, संकोच
भीति और शोक के भावों से वही ममता भयानक और करु
बन जाती है। जीवन की निवृत्ति भावना से 'निर्वेद' का
रस में बदल जाता है। इस प्रकार स्थायी भावों का
अत्यन्त निकट का है।

उदाहरण—सीता को देखकर राम के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है। राम (आश्रय) सीता (आलंबन या विषय)

उद्दीपन—'जो रस को दीपित करै, उद्दीपन है सोय।' उद्दीपन का अर्थ है—जागरित करना, तेज करना। यह दो प्रकार का होता है—(१) आलंबन की चेष्टाएँ, (२) बहिर्गत।

उदाहरण—पुष्पित उद्यान में सीता के कनखियों से देखने पर राम के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है।

(१) पुष्पित उद्यान......... बहिर्गत

(२) कनखियों से देखना............आलंबन की चेष्टा

अनुभाव :—

अनुभावयन्ति इति अनुभावाः। अनुभावो भाव बोधकः।

जो भावों का अनुभव या ज्ञान करावें, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये विभावों के बाद उत्पन्न होते हैं। आश्रय की शारीरिक चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं :—

(१) कायिक अनुभाव (Voluntary) या यत्नज—आँख, भौंह, हाथ, पैर आदि आदि शारीरिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं।

(२) मानसिक अनुभाव—आमोद, हर्ष आदि मानसिक भावों को प्रकट करने वाले भाव इसके अन्तर्गत आते हैं।

(३) आहार्य अनुभाव—आरोपित या कृत्रिम वेश-रचना को कहते हैं। या अयत्नज (Involuntary)

(४) सात्त्विक अनुभाव—इनके लिए आश्रय की चेष्टा अपेक्षित नहीं होती। सत्त्व गुण से स्वाभाविक अंग-विकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं :—

(१) स्तम्भ (शरीर की गति का रुक जाना), (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वर-भंग (स्वाभाविक रूप से शब्द न निकलना), (५) कम्प, (६) वैवर्ण्य (पीला पड़ना), (७) अश्रु और (८) प्रलय (शरीर का चेतना-शून्य हो जाना)।

टिप्पणी—अनुभाव सदा आश्रय के होते हैं, आलंबन के अनुभाव उद्दीपन कहे जाते हैं।

नायिका के अनुभाव :—

नायिका के अनुभावों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—भाव, हाव तथा हेला। भाव मन में रहते हैं, हाव भौंहों और नेत्र द्वारा प्रकट किए

(४) क्रोध—किसी के अपमान करने पर, घृणित कृत्य अथवा आवेश-पूर्ण वाद-विवाद पर जो मनोविकार उत्पन्न होता है वह क्रोध है।

(५) उत्साह—वीरता, दानशीलता, दया अथवा उदारता आदि प्रदर्शित करने पर जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे उत्साह कहते हैं।

(६) भय—भय पैदा करने वाली शारीरिक चेष्टाओं, हिंसक जीव अथवा किसी भयानक स्थिति से जो मनोविकार पैदा होता है उसे भय कहते हैं।

(७) जुगुप्सा—किसी घृणित वस्तु या दृश्य के देखने, सुनने अथवा स्पर्श आदि से जो अश्रद्धा अथवा ग्लानि उत्पन्न होती है तथा मन में जो संकोच उत्पन्न होता है उसे जुगुप्सा कहते हैं।

(८) विस्मय—किसी अलौकिक वस्तु को देखने अथवा वर्णन सुनने से उत्पन्न मनोविकार को विस्मय अथवा आश्चर्य कहते हैं।

(९) निर्वेद (शम)—ज्ञान अथवा भक्ति प्रधानता से सांसारिक विषयों से जो वैराग्य उत्पन्न होता है उस मनोविकार को निर्वेद कहते हैं।

नोट—(१) आचार्य भरत ने इसे रस नहीं माना है क्योंकि इसका साधारणीकरण संभव नहीं होता है। इसलिए नाटकों में प्रायः इसका प्रयोग नहीं होता था।

(२) इन नव भावों के अतिरिक्त कुछ आचार्य वात्सल्य और भक्ति को भी स्थायी भावों के अन्तर्गत मानने लगे हैं तथा कवीन्द्र रवीन्द्र ने ऐतिहासिक रस भी माना है। रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त मनोविज्ञान तथा अन्य आधुनिक विषयों के प्रभाव से शीघ्रता से बदले हैं जैसे—'मानवता' को भी रस-कोटि में माना जाने लगा है तथा इसी के अनुरूप रस के अन्य अंगों की भी धारणा चल पड़ी है।

विभाव :—

'विभावः कारण निमित्त हेतुरिति पर्यायाः।'

नाट्यशास्त्र ७।४

—विभाव, कारण, निमित्त और हेतु एक ही अर्थ के बोधक हैं। भाव के जो कारण होते हैं वे ही विभाव कहे जाते हैं। विभाव, वचन और अभिनय के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन अर्थात् विशेष ज्ञान कराते हैं।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलंबन, और उद्दीपन।

आलंबन—जिनके सहारे स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं। जैसे—नायक-नायिका। जिसके हृदय में भाव उत्पन्न और संचारित होता है उसे आश्रय कहते हैं।

उत्कंठा, निद्रा, स्वपन, बोध, उग्रता गाय।
व्याधि, अमर्ष, वितर्क, स्मृति, ये तैंतीस गनाय॥
—भाषा-भूषण (महाराज जसवन्त सिंह)

असूया (डाह), प्रकृतिगोपना (अवहित्थ), अपस्मार (मिरगी आना), व्रीडा (लज्जा), धृति (धैर्य), अमर्ष (निंदा) और वितर्क (ऊहापोह) को कहते हैं।

विशेष—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि स्थायी भाव किसी अन्य स्थायी भाव का संचारी भाव भी हो जाता है।

जाते हैं तथा अत्यन्त स्फुट भाव को हेला कहते हैं। स्त्रियों की यौवनावस्था के अट्ठाईस प्रकार के अनुभाव माने गए हैं जिन्हें 'अलंकार' कहते हैं। इनको तीन भागों में विभक्त किया गया है :—

(क) अंगज—(३) जो अंग से उत्पन्न हो। जैसे—भाव, हाव, हेला।

(ख) अयत्नज—(७) दीप्ति, शोभा, कान्ति, माधुर्य प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य।

(ग) स्वभावज—(१८) लीला, विलास, विच्छित्ति (कलापूर्ण सुघरी हुई सादगी), विव्वोक (गर्व के कारण इष्ट वस्तु का अनादर), किलकिंचित (प्रसन्नता के कारण भावों के आंशिक मिश्रण), विभ्रम (अलंकार-धारण में विपर्यय), ललित, मोट्टायित (प्रियतम के रूप, गुण, कर्म, स्वभावादि की चर्चा सुनने में बनावटी अन्यमनस्कता), कुट्टमित—(ऊपरी बनावट या अनिच्छा से शारीरिक चेष्टा करना), विहृत (लज्जा के कारण भाव छिपाना), मद, तपन मौग्ध्य, विक्षेप (अधूरे भूषण धारण करना, रहस्य की बात कहना), कुतूहल, हसित, चकित, केलि।

संचारी भाव :—

संचरणशील अथवा अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं।

(१) ये स्थायी भाव के सहायक मात्र होते हैं।

(२) ये सभी रसों में यथा सम्भव संचार करते हैं।

(३) ये व्यभिचारी भाव भी कहे जाते हैं क्योंकि एक ही रस में स्थायी रूप से नहीं टिकते।

(४) जब वह स्थायी भाव के कारण उत्पन्न हो तथा उसी के साथ रहे तब संचारी होता है अन्यथा स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होने पर भाव ही माना जायगा।

भेद—संचारी भाव तैंतीस माने गए हैं। महाकवि देव ने चौंतीसवाँ संचारी भाव 'छल' माना है।

निर्वेदौ, संका, गरब, चिन्ता, मोह, विषाद
दैन्य, असूया, मृत्यु, मद, आलस, स्रम, उन्माद
आकृति-गोपन, चपलता, अपसमार, भय, ग्लानि
व्रीड़ा, जड़ता, हर्ष, धृति, मति, आवेग वितर्क

(ख) वियोग शृङ्गार—

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं, घटा छायी थी।
गमक रही थी केतकी की गंध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वर, नूपुरों से,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी।
चौंक देखा मैंने चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई मुख लज्जा उसी छाती में छिपाई थी।।

इसमें उर्मिला-आश्रय लक्ष्मण-आलंबन, देखना-अनुभाव, वातावरण उद्दीपन, लज्जा, स्मृति-संचारी भाव और स्थायी भाव, रति है। रस-वियोग शृङ्गार है।

(२) हास्य रस—

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं।
देखि दसा हरगन मुसकाहीं।।

मुनि-आलंबन, उकसहिं अकुलाहीं-उद्दीपन, हरगन-आश्रय, मुसकाहीं-अनुभाव, हर्ष संचारी भाव है, स्थायी भाव-हास और हास्य रस है।

(३) करुण रस—

कौरवों का श्राद्ध करने के लिए,
या कि रोने को चिता के सामने,
शेष अब है रह गया कोई नहीं,
एक वृद्धा, एक अन्धे के सिवा।

विनाश-आलंबन, चिता-श्राद्ध-अन्धे-वृद्धा-उद्दीपन, युधिष्ठिर-आश्रय; उच्छ्वास-अनुभाव, मोह, स्मृति, ग्लानि, दैन्य-संचारी भाव है। स्थायी भाव शोक से करुण रस का परिपाक हुआ है।

(४) रौद्र रस—

माथे लखन कुटिल भई भौंहें।
रद पट फरकत नैन रिसौ हैं।

(राजा जनक—आलंबन), लक्ष्मण-आश्रय, (वीर विहीन मही मैं जानी-उद्दीपन), भौंह टेढ़ी होना, रद पट फड़कना-अनुभाव, अमर्ष-संचारी भाव, स्थायी भाव-क्रोध और रौद्र रस है।

अध्याय ३

रस के भेद

साहित्य मे नौ रस प्रसिद्ध है—शृगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त।

(१) शृंगार रस—(शृग=काम की उत्पत्ति+मार=गमन) अर्थात् काम वृद्धि की प्राप्ति। इसमे प्रायः पूत भावना का ही समावेश रहता है। प्रेम के दो रूप है—संयोग-जनित और वियोगजनित। इसी से शृङ्गार रस के भी दो भेद हैं—सयोग शृङ्गार और विप्रलम्भ या वियोग शृङ्गार। विप्रलंभ के तीन भेद होते हैं—(१)पूर्व राग, (२) मान, (३) प्रवास। पूर्व राग की चार स्थिति है—(१) प्रत्यक्ष दर्शन, (२) चित्र दर्शन, (३) स्वप्न दर्शन, (४) गुण श्रवण। मान भी दो प्रकार का होता है—(१) प्रणय मान, (२) ईर्ष्या मान। विप्रलभ मे काम की एकादश दशाएँ मानी गई हैं—(१) अभिलाषा, (२) चिंता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि; (९) जड़ता, (१०) मूर्च्छा, (११) मरण।

शृंगार का रस-राजत्व—(१) 'संसार मे जो कुछ उज्जवल, पवित्र एव दर्शनीय है, वह शृङ्गार रस के क्षेत्र मे है।' 'यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्जवलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।'—भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, अ० ६।

(२) इस रस के आलबन विभाव दक्षिणनायक, पर स्त्री तथा वेश्या को छोड़ कर अन्य नायिकाएँ मानी जाती है।

(३) शृङ्गार सेही सब रस उत्पन्न होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं।

(४) शृङ्गार में उन्तीस संचारी भावो का समावेश हो जाता है।

(५) इसके सयोग और वियोग दो पक्ष होने से इसका क्षेत्र व्यापक हो गया है। इसलिये इसे 'रस-राजत्व' प्राप्त हुआ है।

(क) संयोग शृङ्गार—

'राम को रूप निहारति जानकी कगन के नग की परछाईं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

राम-आलबन, सीत-आश्रय, प्रतिबिंब-उद्दीपन, परछाहीं देखना, कर टेकना-अनुभाव, हर्ष एव जड़ता—संचारी भाव। स्थायी भाव—रति है जो इन सबसे पुष्ट होकर संयोग शृङ्गार रस का परिपाक करता है।

उदाहरण—गोपी ग्वाल-माली जुरे आपुस में कहैं आली,
कोऊ जसुदा के अवतर्यो इन्द्रजाली है।
कहै 'पदमाकर' करै को यों उताली जातैं,
रहन न पावै कहूँ, एको फन खाली है।
देखैं देवताली भई विधि कै खुसाली, कूदि,
किलकति काली, हेरि, हँसति कपाली है।
जनम को चाली, एरी अद्भुत है ख्याली आजु,
काली की फनाली पै नचत बनमाली है।

आश्रय—ग्वालिनी; आलंबन—कृष्ण का काली नाग को नाथ कर प्रकट होना, अनुभाव—चकित देखना; सचारी भाव—स्मृति, औत्सुक्य; स्थायी भाव—विस्मय से पुष्ट अद्भुत रस है।

(६) शान्त रस :—तत्त्व ज्ञान और वैराग्य से शान्त रस की उत्पत्ति होती है। इसका स्थायी भाव शम या निर्वेद है।

विशेष—जब निर्वेद गंभीर—चिंतन का परिणाम होता है, तब वह स्थायी भाव होता है जब इष्ट-वियोग, अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से होता है तब वह व्यभिचारी (सचारी) भाव माना जाता है।

उदाहरण—अस विचारी नहि कीजिय रोसू। काहुहि बादि न देइम दोसू।
मोह-निसा सब सोव निहारा। देखिम सपन अनेक प्रकारा॥
एहि जग-जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच-वियोगी।
जानिम तबहि जीव जड जागा। जब सब विषय-विलास-विरागा॥

आलंबन—राम-सीता लक्ष्मण बनवास, आश्रय—निषाद; लक्ष्मण का कहना—उद्दीपन; अनुभाव—निषाद के विवेक को जागृत करना, सचारी भाव—धृति, मति आदि—स्थायी भाव 'निर्वेद' से पुष्ट 'शान्त' रस है।

(ख) आवश्यक—(१) बहुत से आचार्यों ने वात्सल्य रस को पृथक स्थान दिया है। जहाँ स्नेह भाव की पुष्टि होती है, वहाँ वात्सल्य होता है। इस रस के आलंबन पुत्र-कन्या, भाई-बहन तथा अन्य बालक, शिशु आदि होते हैं।

उदाहरण—वरदन्त की पगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकें घन-बीच जगै, छबि मोतिन-माल अमोलन की॥
घुँघराली लटें लटकें मुख-ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करै 'तुलसी' बलि जाउं लला इन बोलन की॥

आलंबन—बालक राम, घुँघराली लटें, मोतियों की माला आदि 'उद्दीपन' हैं; आश्रय—तुलसी; अनुभाव—बलि जाना है और आलंबन को

(५) वीर रस—युद्ध अथवा अत्यन्त दुष्कर कर्म करने के लिए हृदय मे उत्पन्न उत्साह से वीर-रस की उत्पत्ति होती है। इसके चार भेद हो गए है :—

(१) युद्ध वीर, (२) दान वीर, (३) दया वीर, (४) धर्म वीर। दानवीर (कर्ण), दयावीर (दधीचि, और धर्म वीर (हरिश्चन्द्र) माने जाते हैं।

उदाहरण—जो साहस कर बढ़ता उसको केवल कटाक्ष से टोक दिया।
जो वीर बना, नभ-बीच फक, बरछे पर उसको रोक दिया।
क्षण उछल गया अरि-घोड़े पर, क्षण लड़ा, सो गया घोड़े पर,
वैरी दल मे लड़ते-लड़ते क्षण खड़ा हो गया घोड़े पर॥
—हल्दी घाटी मे—

आलंबन-मुगल सेना, आश्रय-राणा प्रताप; युद्ध व्यापार-उद्दीपन; अनुभाव-राणा का युद्ध-कौशल, आवेग, हर्ष-संचारी भाव हैं। स्थायी भाव-उत्साह मे पुष्ट वीर रस है।

(६) भयानक रस—भय स्थायी भाव से पुष्ट भयानक रस की निष्पत्ति होती है।

उदाहरण— एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृग राय।
विकल बटोही बीच ही, परयो मूरछा खाय॥

आलंबन—अजगर और सिंह, (उद्दीपन—अजगर और सिंह की भयप्रद चेष्टाएँ); आश्रय—बटोही; अनुभाव—(बटोही का) विकल होना; मूच्छित होना, सचारी भाव—स्वेद, कप, रोमांच, आवेश आदि है। स्थायी भाव—भय से पुष्ट भयानक रस है।

(७) वीभत्स रस—इसका स्थायी भाव घृणा या जुगुप्सा है।

उदाहरण—लोहू जमने से लोहित, सावन की नीलम घासें।
सरदी-गरमी से सड़कर, बजबजा रही थी लाशें॥
आँख निकाल उड जाते, क्षण भर उड़कर आ जाते।
शव-जीभ खीचकर कौवे, चुभला-चुभला कर खाते॥

आलंबन—हल्दीघाटी की युद्ध भूमि, उद्दीपन—लोहू का जमना, लाशो का बजबजाना कौओ का आँख निकालना, सचारी भाव—निर्वेद, आवेग आदि, अनुभाव—नाक, भौं सिकोड़ना; स्थायी भाव घृणा या जुगुप्सा से पुष्ट वीभत्स रस है।

अद्भुत रस—इसका स्थायी भाव विस्मय है जो किसी विचित्र वस्तु, तत्व अथवा आख्यान के सुनने, देखने से उत्पन्न होता है।

(२) पर स्त्रीगत प्रेम; स्त्री का पर पुरुष मे प्रेम; स्त्र विषयक प्रेम, नदी-नाले-वृक्ष आदि मे दाम्पत्य विषयक प्रेम का शृङ्गार-रसाभास होता है। गुरुजन या पूज्य व्यक्तियो को आलंबन रसाभास है, विरक्त मे करुणा का प्रदर्शन करुण-रसाभास, विजित उत्साह का प्रदर्शन वीर-रसाभास, गुरु, पिता, अग्रज आदि पर क्रोध होने रौद्र रसाभास आदि होता है।

(३) इसी प्रकार साधु मे क्रोध, वैरागी में काम, वीर मे भय आदि का प्रदर्शन भावाभास है।

चेष्टाएँ—मधुर छवि, अवलोकनि, चितवनि आदि भी उद्दीपन हैं ... है, संचारी भाव—हर्ष है। इनसे पुष्ट हुआ 'स्नेह' स्थायी भाव वात्सल्य रस की निष्पत्ति करता है।

(२) भक्तों ने 'भक्ति' को भी रस मान लिया है। भक्तों ने शान्त और शृङ्गार (मधुर) रस को मुख्य माना है। भक्ति-काव्य में कुछ नवीन रसों का भी प्रयोग हुआ है :—

स्थायी भाव	(रति भाव)
दास्य	प्रीति
सख्य	प्रेम
वात्सल्य	अनुकम्पा

(३) डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'ऐतिहासिक रस' माना है।

(४) आजकल कुछ प्रयोगवादी आलोचक 'उल्लास' को भी रस मानते हैं और उससे कुछ अन्य नवीन रसों की कल्पना करते हैं। इसका स्थायीभाव 'मानवता' है।

विशेष (१)—आचार्य भरत के अनुसार मूल रस चार हैं—शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स। शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति हुई है। भरत मुनि के अनुसार आठों रसों के भेद तथा उनके देवता निम्नलिखित हैं :—

रस	वर्ण	देवता
शृङ्गार	श्याम	विष्णु
हास्य	श्वेत	प्रमथ, शिव का गण
करुण	कपोत	यम
रौद्र	लाल	रुद्र
वीर	गौर	इन्द्र
भयानक	काला	भैरव
वीभत्स	नीला	महाकाल
अद्भुत	पीला (नारंगी-सा)	ब्रह्मा

(२) विभावों से स्थायी भाव उत्पन्न किया जाए, अनुभावों [illegible] कराया जाए, व्यभिचारियों से परिपुष्ट किया जाए, नटों में [illegible] उसका आरोप किया जाए, तब स्थायी भाव से रस की निष्पत्ति सम्भव है।

(३) विभाव के उत्पाद्य-उत्पादक अथवा कार्य-कारण संबंध से रस उ[illegible] होता है, अनुभाव के गम्यगमक भाव से रस अभिव्यक्त होता है, संचारी के पोष्य-पोषक भाव से पुष्ट होता है। विभाव यदि ज्ञापक कारण भी है, तो ज्ञाप्य पहले से वर्तमान हो। किन्तु शब्द की ओर संकेत नहीं है।

समीक्षा—(१) इस मत में स्थायी भाव के साथ संयोग माना गया है, भरत के मूल-सूत्र में इसका उल्लेख नहीं है।

(२) भाव का अनुकरण नहीं किया जा सकता है।

(३) रस की सत्ता अनुकार्य में मानी गई है। यदि सामाजिकों का उससे पूर्वज्ञान नहीं है तो वह प्रेक्षागृह ही नहीं जायगा।

(४) रस को विभावादि का कार्य माना गया है। यदि रस कार्य है, तो विभावादि कारण हुए। कार्य एक बार हो जाता है तो कारण के बिना भी वह बना रहता है। घड़ा बन गया, कुम्हार रहे या न रहे।

(५) अनुकरण की सफलता से 'रस' होता है, ठीक नहीं है। जब तक अनुकार्य से संबंध न हो, अनुकरण कैसा?

(६) यह लोल्लट रस की उत्पत्ति मानते हैं, उसकी पूर्व स्थिति नहीं। यह सब से बड़ा दोष है।

यह ध्यान रहे, इस मत के अन्तर्गत 'संयोग' का अर्थ है सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ है उत्पत्ति। इसीलिए इसे उत्पत्तिवाद भी कहा जाता है।

(२) शंकुक का अनुमानवाद

मत-प्रतिपादन —शंकुक का मत न्यायशास्त्र पर आधारित है। इनके मतानुसार स्थायी भाव की स्थिति नायक में रहती है। नट अपने अभिनय-कौशल से दर्शक को उसका अनुदान कराता है। 'चित्र-तुरग न्याय' के अनुसार चित्र का घोड़ा वास्तव में घोड़ा नहीं होता, किन्तु उसे घोड़ा मान लिया जाता है। वैसे ही दर्शक नट में ही नायक का अनुमान कर लेता है। इस मान्यता के अनुसार 'संयोग' का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक संबंध है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति या अनुमान' है। स्पष्ट है, शंकुक यह लोल्लट के आरोपवाद से सहमत नहीं है, उनकी आस्था अनुमितिवाद में है। अनुमान ही रस की निष्पत्ति (सिद्धि) है।

अध्याय ४

रस-निष्पत्ति

यों तो जनश्रुति नन्दिकेश्वर को रस-सिद्धान्त का प्रथम आचार्य मानती है, किन्तु इसके सम्बन्ध में कोई विशेष प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में रस-सिद्धान्त का प्रवर्तन किया और उन्हीं के एक सूत्र की व्याख्या से रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विवादों का प्रचलन भी हुआ। रस की परिभाषा करते हुए भरत मुनि ने लिखा है :—

'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' ऐसे शब्द हैं जिनकी व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। इसी के आधार पर भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना हुई है —

(१) भट्टलोल्लट का आरोप या उत्पत्तिवाद।
(२) शंकुक का अनुमानवाद।
(३) भट्टनायक का भोगवाद।
(४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

१ भट्टलोल्लट का आरोपवाद या उत्पत्तिवाद

मत-प्रतिपादन—(१) यह मत मीमांसा दर्शन पर आधारित है। अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु के धर्म की बुद्धि लाने का नाम आरोप है। जैसे धोखे से रज्जु मे सर्प का रूप दिखाई पड़े और उससे भय उत्पन्न हो जाय। राम और सीता अनुकार्य्य हैं, अभिनय करने वाले नट अनुकर्त्ता हैं। विभावो से आलम्बित और उद्दीपित अनुभावो से प्रतीत और संचारियों से पुष्ट रति आदि भाव ही रस हैं। इनकी स्थिति मुख्यतया अनुकार्य मे है किन्तु अनुकर्त्ता (नट आदि) के विभावादि मे आकर्षक अभिनय मे पहले का आरोप कर लिया जाता है—

'नटेतु तुल्यरूपतानुसन्धान वशात् आरोप्यमाणः सामाजिकानी चमत्का हेतुः।' काव्य प्रदीप।

अर्थात् नट मे समान रूप से अनुसंधानवश आरोप्यमाण ही सामाजि के चमत्कार का कारण है। इसीलिए इस रस-प्रतीति को आरोप वाद क गया है।

आधार—संक्षेप में श्री शंकुक के मत का सारांश निम्नलिखित है :—

(१) अनुकार्य (रामादि) ही विभाव है।

(२) नट अनुकार्य का अनुकरण करता है। चित्र-तुरंग न्याय के अनुसार सामाजिक उसमे स्थायी भाव का अनुमान कर लेता है।

(३) अनुमान का आधार यद्यपि कृत्रिम है तथापि नट के अभिनय-कौशल से सामाजिको के मन मे स्थायी भाव का अनुमान ही रस बन जाता है। यह अनुमान अनुभावादि द्वारा गम्य-गमक अथवा अनुमाप्य-अनुमापक भाव से रस-निष्पत्ति में सहायक होता है।

समीक्षा —शंकुक ने अनुकरण तथा अनुमान का आश्रय लेकर ही इस विषय की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

(२) शंकुक ने अनुमिति ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त आनन्द का अन्तर समझने मे भूल की है।

(३) दोनों आचार्यों ने (भट्ट लोल्लट और शंकुक) प्रेक्षक के अतिरिक्त, नायक में ही रस की मूल स्थिति मान लेने की भारी भूल की है।

(४) किसी बात का अनुमान कर लेने से ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नही होती। सुख का नाम ले लेने से ही दुःखी व्यक्ति सुखानुभव नही करने लगता।

(२) भट्टनायक का भोगवाद

भट्टनायक का मत सांख्य पर आधारित है। इनके अनुसार 'संयोग' से तात्पर्य है—'भोज्य भोजकत्व भाव संबंध। 'निष्पत्ति' का अर्थ है—मुक्ति अथवा भोग। इसी से उनकी सम्मति मे विभावादिकों से रस-निष्पत्ति होती है। भोग का अर्थ है—सत्वगुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाश रूप आनन्द का ज्ञान।' इस प्रकार विभावादि का रस से भोजक-भोज्य संबंध है। जिसे सिद्ध करने के लिए इन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार भी स्वीकार किया है।

मत-प्रतिष्ठा —(१) इन्होंने आरोप या अनुमान संबंधी समस्त बातों को स्वीकार नहीं किया।

(२) ये न तो लोल्लट की भाँति रस को उत्पन्न हुआ मानते हैं, न उस की प्रतीति मानते हैं और न उसको व्यक्त हुआ मानते हैं।

(३) इनके मत से काव्य में तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ होती है —

(क) अभिधा-क्रिया—जिससे नाटक के शब्दों का अर्थ जाना जाता

(ख) भावकत्व-क्रिया—जिससे हम नाटक के पात्रों का भाव

आदि को विशिष्ट व्यक्ति न मानकर साधारण पुरुष या स्त्री है।
मानना की इस स्थिति में साधारणीकरण होता है। यह
विचार का ही है। ऐसी स्थिति में 'उद्बोध' का अर्थ सम्यक् अर्थात्
रूप से भावित होना समझना चाहिए।

(ग) भोजकत्व-क्रिया—जिससे नाटक का दर्शक भोग करता या आनन्द लेता है। इसी स्थिति में वह रजस् और तमस् गुण-निवृत्त होकर सत्त्व गुण से प्रेरित होता है।

मत-समीक्षा—(१) ये पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने दर्शक की महत्ता स्वीकार की।

(२) इनमें विभावों का साधारणीकरण हुआ।

(३) काव्य की क्रियाओं से ही कार्य की सिद्धि मानी गई।

(४) इस मत के विरोध में अभिनव गुप्त ने यही कहा कि 'इनके भावकत्व और भोजकत्व व्यापार का शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है।'

(५) भावकत्व का काम व्यंजना या चर्वणा से सिद्ध हो जाता है। भावकत्व तो भावों का गुण ही है। 'काव्यार्थान्भावयतीति भावा' अर्थात जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावे वही भाव है। इस प्रकार इसकी स्वतंत्र स्थिति मानना उचित नहीं है।

(६) भोग का भाव रस में ही सन्निहित है। 'आस्वाद्यत्वाद्रस:' जिसका आस्वाद या भोग हो सके वही रस है। इसकी भी इसीलिए भिन्न सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है।

(७) अभिधा के संबंध में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। साधारणीकरण में राम के असाधारण कार्यों से दर्शक प्रभावित होता है, उन्हें साधारण समझ लेने मात्र में नहीं।

(८) आलंकारिकों ने भावकत्व को तो स्वीकार नहीं किया और [illegible]
[illegible]

है—*व्यंजना* के द्वारा, आनन्द रूप में प्रकाशित होना या उसकी अभिव्यक्ति होना। इसीसे ये अभिव्यक्तिवादी हैं।

भट्ट लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मतो में रति का आस्वादन कहा गया है, जो विद्यमान नहीं है। अभिनव गुप्त के मत में वही रति वासना रूप से सामाजिकों के मन में स्थित है। वही व्यजना शक्ति से प्रकट होकर सामाजिको का रसास्वादन कराती है। वह अव्यक्त वासना वैसे ही अभिव्यक्त हो जाती है जैसे 'मिट्टी मे पहले से हो वर्तमान गध जल-सिंचन द्वारा व्यक्त हो जाती है।'

मत-विश्लेषण :—

(१) *रस की निष्पत्ति सामाजिक मे होती है।*

(२) स्थायी भाव, वासना या संस्कार के रूप मे सामाजिक मे पहले से स्थित रहते हैं।

(३) साधारणीकृत विभावादि से वे *स्थायी भाव प्रकट हो जाते हैं।*

(४) इन भावो की जागृति के साधन काव्य-पाठ अथवा नाट्यादि के अभिनय होते हैं।

(५) वासना-रूप मे स्थित स्थायी भाव विभावादि द्वारा *व्यंग्य-व्यंजक* भाव से सामाजिको के हृदय मे अभिव्यक्त होते हैं।

निष्कर्ष—*इस सिद्धान्त के अनुसार* 'रस की उत्पत्ति नहीं, बल्कि अव्यक्त भाव की अभिव्यक्ति होती है।' रसानुभूति सहृदय को ही होती है जो तीन प्रकार के हैं।

(१) सांसारिक अनुभव से (२) पूर्वजन्म के संस्कारों से तथा ग्रन्थादि के पठन-पाठन द्वारा। भरत मुनि ने यह बताया है कि स्थायी भाव द्वारा रस सिद्धि *नाना प्रकार के व्यंजनों द्वारा बनने वाले षाडव रस के समान है। इसका* आस्वादन पानक रस के समान होता है। यद्यपि इस मत का विकास भट्टनायक के भोजकत्व से ही हुआ है तथापि अभिनव गुप्त ने भट्टनायक की एक बड़ी कमी को पूरा किया है। भट्टनायक ने भोजकत्व में सामाजिक के बाह्य का भार स्वीकार किया है; अभिनव गुप्त ने भोजकत्व के द्वारा सामाजिक में अन्तर्निहित गुण की महत्ता की है। *सामाजिक में जिसके कारण* 'भोजकत्व' की सम्भावना होती है वह अव्यक्त रूप से स्थित सामाजिक की वासना ही है। इस प्रकार रस में व्यंजना-व्यापार को प्रधानता से रखकर और *पाठक अथवा दर्शक* दोनों को महत्त्व मिल जाता है।

भट्टनायक और अभिनव गुप्त के साधारणीकरण में भी इसलिए अन्तर

अध्याय ५

अलङ्कार-योजना

अलंकार—श्री श्याम सुन्दर दास ने अलंकार को 'शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म' माना है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग को' अलकार कहा है। इनके सहारे कविता का प्रभाव कहीं-कहीं बढ जाता है। अलंकार, कविता के साधन हैं, साध्य नहीं। इनको साध्य मान लेने से कविता विकृत हो जाती है। 'अलम्' का अर्थ है—भूषण। जो अलङ्कृत अर्थ भूषित करे वह अलंकार है। ये काव्य के बहिरंग हैं, अन्तरंग नहीं। आचार्यों ने इनकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं :—

(१) आचार्य वामन—'अलंकरोतीति अलंकारः।' जो सुशोभित करे अलंकार है।

(२) 'अलक्रियतेऽनेनत्यलंकारः।' जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है। पहली परिभाषा में अलकार, कर्त्ता या विधायक है, दूसरी में करण या साधन। वास्तव में अलंकार साधन ही हैं।

(३) 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते।'—आचार्य दण्डी-काव्यादर्श २।१ अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं।

(४) आचार्य केशव ने भी 'भूषण बिनु न विराजही, कविता, वनिता, मित्त।' कहकर अलकारो के महत्त्व को स्वीकार किया है।

काव्य मे सुन्दरता तथा चमत्कार की वृद्धि अलंकार से तीन प्रकार मे होती है :—

(१) शब्द द्वारा—शब्दालंकार।

(२) अर्थ द्वारा—अर्थालंकार।

(३) शब्द और अर्थ दोनों से—उभयालकार।
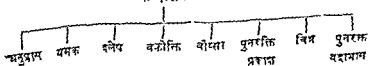
(५) वीप्सा—जहाँ पश्चाताप सूचक शब्दों का

भग्न उर पर भूधर सा हाय !
गुम्फित, धर देती है साकार !—पन्त

'हाय !' में वीप्सा अलंकार है।

(६) पुनरुक्ति-प्रकाश—जहाँ भावो में बल देने के लिए एक ही की दो बार आवृत्ति हो। जैसे—

'देखता हूँ जब उपवन
पियालो में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को,——(पन्त)

'भर भर' में पुनरुक्ति प्रकाश है।

(७) चित्रालंकार—वर्ण-विन्यास इस क्रम से होता है जिससे वह छन्द कोई आकृति विशेष धारण कर लेता है। जैसे,

राम-राम-रम छेम-छम, सम दम जम श्रम धाम।
दाम काम क्रम प्रेम यम, जम-जम दम अम-बाम॥

विशेष—इससे कमल-बन्ध होता है। इसके प्रत्येक दल में १० शब्द हैं, प्रत्येक शब्द का दूसरा अक्षर 'म' है।

(८) पुनरुक्त वदाभास—जहाँ दो शब्द पर्यायवाची हो और उनका अर्थ एक-सा हो। परन्तु यथार्थ में अर्थ कुछ दूसरा ही हो।

उदाहरण—पुनि फिरि राम निकट सो आई।
प्रभु लछिमन पहँ बहुरि पठाई॥

विशेष—'पुनि' और 'फिरि' में एक अर्थ का आभास है। किन्तु 'फिरि' का अन्वय 'आई' के साथ होगा जिससे यथार्थ अर्थ संभव है।

अर्थालंकार—इन अलंकारों का आधार 'कल्पना' है जो समता, विरोध तथा तटस्थता पर आधारित हैं। इस वर्ग के प्रमुख अलंकारों का ही संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। राजानक रुय्यक ने इनको पाँच भागों में विभक्त किया है। इनके वर्गीकरण का आधार मनोवैज्ञानिक भी है। प्रायः हमारी बुद्धि-साम्य, विरोध और सान्निध्य से प्रभावित होती है।

(ग) अन्त्यानुप्रास—अन्त वर्णों में जब समता हो। यथा,

दीन दयाल बिरद संभारी, हरहु नाथ मम संकट भारी।

विशेष—केवल तुकान्त कविता में प्रायः चरण अन्त के वर्ण समान होते हैं।

(घ) लाटानुप्रास—'शब्द, अर्थ एकहि रहत, अन्वहि करहिं भेद।'

यथा, पूत सपूत तो क्या धन संचय।

पूत कपूत तो क्या धन संचय। (सपूत और कपूत से अर्थ-भेद)

(२) यमक—का अर्थ है—दो। एक ही शब्द या पद दुबारा भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसके दो भेद हैं—(१) सार्थक यमक पद यमक, (२) निरर्थक भंग-पद यमक। जैसे—

(१) ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी।

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।—भूषण

(२) माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर।

करका मनका डारि कै, मनका मनका फेर॥

(३) श्लेष—जब एक ही शब्द के एक से अधिक अर्थ हों। इसका वाच्यार्थ है—चिपका हुआ। एक ही शब्द में अनेक अर्थ चिपके रहते हैं। इसके दो भेद हैं—(क) अभंग श्लेष, (ख) सभंग श्लेष।

(क) अभंग श्लेष—चरन धरत, चिंता करत, चितवत चारिहुँ ओर।

सुबरन को खोजत फिरत, कवि, व्यभिचारी, चोर॥

(ख) सभंग श्लेष—चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।

को घटिये वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

—बिहारी।

(४) वक्रोक्ति—वक्र + उक्ति = टेढ़ा कथन। वक्ता कुछ कहे और श्रोता उसका श्लेष या काकु से कुछ और ही अर्थ लगावे। इसके दो भेद हैं :—

(क) श्लेष वक्रोक्ति—जहाँ श्लेष से और ही अर्थ निकाला जाय। जैसे—

खोलो जू किवार, तुम को हो? एतोबार,

हरि नाम है हमारो, बसो कानन-पहार में। (सिंह)

हौं तो प्यारी माधव, तो कोकिला के माथे भाग, (बसन्त)

हौं तो घनश्याम, बरसो जू कहीं जार मे॥ (बादल)

(ख) काकुवक्रोक्ति—मैं सुकुमारि, नाथ बन जोगू।

तुमहिं उचित तप, मो कहँ भोगू॥

मान के रूप कहना है। उपमेय में उपमान का निषेध-[illegible] ।

भेद

(क) अभेद रूपक—'ताहि समय मुनि शिव धनु-भंगा

धार मृदु-मुख कमल सरसा।

'मृदु-मुख' पर कमल का अभेद है।

(ख) तद्रूप रूपक—राधा-मुख-चन्द्र आनन्ददायी है।

अभेद रूपक के तीन भेद हैं —

(क) सांग रूपक—जिसमें उपमेय के अंगों की एक रूपता उपमान के सभी अंगों से की जाती है। जैसे—

मेघ पँखोला म-मुरवार—
दाँत की युति सी बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार;
जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र,
पलक, पल-पल चपला के भार;

इसमें प्रेयसी के अङ्ग उपमेय हैं, उनको एक रूपता पार्वत्य-छटा के उपमानों पर आरोपित है।

(ख) निरंग रूपक—इसमें केवल एक-एक रूपक होता है जो किसी एक ही विशेष गुण पर आधारित होता है। जैसे :—

बन्दहुँ गुरु-पद-कंज, कृपा सिंधु, नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रवि-कर-निकर॥

इसमें प्रत्येक उपमेय का एक ही उपमान है।

(ग) परंपरित रूपक—जिसमें एक रूपक दूसरे रूपक पर आधारित होता है। जैसे :—

'जय जय जय गिरिराज-किशोरी। जय महेश-मुख-चंद-चकोरी।'

इसमें 'गिरिराज-किशोरी' पर 'चकोरी' 'महेश-मुख' पर 'चन्द' का भाव आरोपित है।

(२) उल्लेख—जहाँ एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाय। जैसे—'वह सुन्दरता में मनोज, वृद्धि में शुक्ल पक्ष का शशि और युद्ध में नृसिंह है।'

(१) यह मेरी गोदी की शोभा, सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली॥

(१) सादृश्यमूलक अलंकार—

(क) भेदाभेद प्रधान —

(अ) उपमा — जहाँ किसी प्रकार की समानता के कारण एक वस्तु दूसरी के समान बताई जाय। इसके चार अंग होते हैं —

(१) उपमेय—जिसकी तुलना की जाय।

(२) उपमान—जिससे तुलना की जाय।

(३) वाचक शब्द—जिस 'शब्द' से तुलना प्रकट हो।

(४) धर्म—जिस सामान्य गुण के कारण तुलना की जाय। उदाहरण—'हरि-पद कोमल कमल—से।' में उपमेय—हरि-पद; उपमान—कमल; वाचक शब्द—'से' और धर्म—कोमल है।

विशेष—उपमेय और उपमान दोनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है।

(ब) मालोपमा—जहाँ एक ही उपमेय के लिए कई उपमान एक माला-सी बना दें। जैसे :—

(१) इन्द्र जिमि जम्भ पर.................(भूषण)

(२) पछतावे की परछाहीं सी तुम भू पर छाई हो कौन?
दुर्बलता सी, अँगड़ाई सी, अपराधी सी भय से मौन।

(स) अनन्वय—जहाँ किसी वस्तु की उपमा उसी वस्तु से दी जाय। यथा, (१) आप सो आप ही हैं। (२) राम सो राम, सिया सो सिया।

(३) यद्यपि दुर्बल भारत है, पर भारत के सम भारत है।—गुप्त जी।

(द) उपमेयोपमा—जहाँ उपमेय के लिए केवल एक ही उपमान हो, तीसरी सदृश वस्तु का अभाव हो।

उदाहरण—'वे तुम सम, तुम उन सम-स्वामी।'

विशेष—अनन्वय में उपमा उसी वस्तु से दी जाती है। किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता है। 'उपमान' कोई भी हो सकता है।

(ई) स्मरण—किसी वस्तु के देखने अथवा अनुभव करने से उसके पूर्व रूप का जहाँ स्मरण हो जाय। जैसे :—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर॥—बिहारी।

(ख) अभेद-प्रधान—

(१) रूपक—जहाँ उपमेय और उपमान दोनो में एक रूपता हो जाय। जैसे—

'चरण-कमल बंदौं हरि राई।' यहाँ पर चरण उपमेय और कमल उप-

जे रहीम उत्तम प्रकृति का करि
चन्दन विष व्यापत नही, लपटे

(४) निदर्शना—जहाँ वस्तुओ का परस्पर उपमा की कल्पना से बिंब-प्रतिबिंब भाव सूचित करे।

सुनु खगेस हरि-भक्ति बिहाई। जे सुख चाहहिं
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत ज

(५) प्रतिवस्तूपमा—पृथक दो वाक्य—उपमेय वा वाक्य होते हैं। किन्तु समान गुण (धर्म) को अलग-अलग शब्दो मे जाता है। जैसे—

निन्दहि सोहाय न प्रबध बधावा, चोरहिं चाँदनि रात न भावा।

(६) सहोक्ति—कई बातो का एक साथ होना सरस रीति से कहा जाय।

वाचक शब्द—सह, समेत, साथ, संग।

उदाहरण—(१) नाक पिनाकहिं संग सिधाई।

(२) प्रथम टकोर सुनि ·· ·· ·· ·· । (केशव)

(घ) प्रतीति प्रधान —

(१) उत्प्रेक्षा—जहाँ एक वस्तु की प्रतीति किसी अन्य में कर ली जाय।

वाचक शब्द—मनु, मानो, जनु, जानो, मनहुँ।

इसके तीन भेद होते हैं (क) वस्तूत्प्रेक्षा, (ख) हेतूत्प्रेक्षा, (ग) फलोत्प्रेक्षा

(क) वस्तूत्प्रेक्षा—एक वस्तु की संभावना किसी अन्य वस्तु में की जाय। जैसे—

कहि मोहत गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसत मनो पिये, दावानल की ज्वाल। (बिहारी)

'गुंजन की माल' मे 'दावाग्नि की ज्वाला' की संभावना है।

(ख) हेतूत्प्रेक्षा—अहेतु मे हेतु की संभावना की जाय। जैसे—

पावकमय ससि स्रवत न आगी।
मानहु मोहि जानि हत भागी। (तुलसी)

(ग) फलोत्प्रेक्षा—अफल मे फल की संभावना की जाय। जैसे—

तुव पद समता को कमल,
जल सेवत इक पाय। (भाषा भूषण)

(२) अतिशयोक्ति—जहाँ रोचकता लाने के लिए किसी वस्तु का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाय। जैसे—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहि कोय
ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।

(२) विभावना—जहाँ कारण के बिना ही कार्य हो।

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
आनन-रहित सकल रस भोगी।
बिनु वाणी, वक्ता, बड जोगी॥

(३) असङ्गति—जहाँ कारण एक स्थान पर और कार्य स्थान पर हो। जैसे—

(१) हृदय घाव मेरे, पीर रघुबीरहि। (तुलसी)

(२) दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥ (बिहारी)

(३) तटस्थ मूलक—इसमे तर्क, लोक और वाक्य न्याय मूलक उप-विभाजन भी किए जाते हैं।

(१) काव्य लिङ्ग—जहाँ पर सकारण किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। जैसे,

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाए बौराय नर, वह पाए बौराय॥ (विहारी)

(२) मीलित—जहाँ दो वस्तुओं मे कोई भेद न दिखाया जाय। यथा,

पान पीक अधरान मे, सखी लखी न जाय।
कजरारी अँखियान मे, कजरारी न लखाय॥

(३) उन्मीलित—जहाँ दो वस्तुओ मे सादृश्य होने पर भी किसी एक के कारण भेद दिखाई पड़े। यथा,

चम्पक हरवा, अग मिलि, अधिक सुहाय।
जानि परे सिय हियरे, जब कुँभिलाय॥

(४) तद्गुण—जहाँ एक वस्तु अपना गुण छोड़कर अपने निकटस्थ किसी उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु ग्रहण कर लेती है। जैसे—

(१) केस मुकुत सखि, मरकत मनिमय होत।
बालो से श्वेत, मोती मरकत मणि होती है।

(२) वेसरि मोती अधर मिलि, पद्म राग छवि देत।

(५) अतद्गुण—यह तद्गुण का उल्टा है। समीप रहने पर भी एक का गुण न ग्रहण करें। यथा,

होगी।

उदाहरण—रूप-चित्रण में उत्प्रेक्षा के माध्यम से योजना :—

> या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
> फोड़ कर धधक रही हो कान्त;
> एक लघु ज्वालामुखी अचेत
> माधवी रजनी में विश्रान्त।
> (श्रद्धा के मुँह के लिए आया है।)

(२) विशेषण-विपर्यय (Transferred epithet)—मिल्टन और कीट्स की कविताओं में इसका अधिक प्रयोग मिलता है। हिन्दी में निराला और पन्त की कविताओं में इसका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। जैसे,
"चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा धाम।" (निराला)

व्रज-बालिकाओं की व्याकुलता के लिए 'व्याकुल पनघट' का प्रयोग हुआ है।

ऐसी कविताओं में विशेषण (१) शुद्ध रूप में और (२) कृदन्त रूप में होते हैं। जैसे,

> कल्पना में है कसकती वेदना,
> अश्रु में जीता सिसकता गान है। (पन्त)

'कसकती वेदना' और 'सिसकता गान' कृदन्त रूप में प्रयुक्त है।

विशेष—विशेषण विपर्यय के द्वारा कवि कर्ता की अवस्था प्रकट करता है। उसकी कल्पना में कौन कसकती है! वेदना' वेदना के कसकने का तात्पर्य उसका रह-रह के मन में आ जाना है।

(३) मानवीकरण (Personification)—'अमानव' में 'मानव' गुणों के आरोप करने की प्रवृत्ति को मानवीकरण कहा जाता है। विज्ञान के लिए अनुपयुक्त होते हुए भी मनुष्य-स्वभाव में निहित होने के कारण यह काव्य और साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त है। सब वस्तु जीवित हैं। (सर्वचेतनवाद,

चन्दन विष व्यापे नहो, लपटे रहत भुजङ्ग ।

(६) यथा संख्य—(क्रम)—जहाँ वाक्य में क्रम न्याय मूलक हो। जैसे—

अमिय, हलाहल, मद भरे, स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहिं चितवत इक बार ॥

(७) परिसंख्या—जहाँ किसी वस्तु को अन्य स्थानों से निषेध कर केवल एक ही स्थान पर प्रतिष्ठा की जाय। जैसे—

(१) मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाई।
होम-हुताशन-धूम नगर एकै मलिनाई ॥ (केशव)

(२) पत्रा ही तिथि पाइयत, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ई रहत, आनन ओप उजास ॥—विहारी।

(८) अर्थान्तरन्यास—जहाँ सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से कथन हो। जैसे—

(१) सामान्य का विशेष से (साधारण कथन का समर्थन विशेष उदाहरण से)

बड़े न हूजै गुनन बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सो कनक, गहनो गढो न जाय ॥

(२) विशेष बात का सामान्य कथन से समर्थन—

फिर व्यूह भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो?
क्या वीर बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहो?

विशेष—गूढार्थ प्रतीति मूलक अर्थालंकारों में वक्रोक्ति और 'स्वभावोक्ति' अलंकार आते हैं। वक्रोक्ति—शब्दालंकारों में है, 'स्वभावोक्ति' अलंकार पर आगे निबन्ध पढ़ें।

(ख) नए अलंकार

(१) अप्रस्तुत योजना—अप्रस्तुत का अर्थ है जो प्रस्तुत न हो, कहीं से लाया गया हो। यह 'उपमान' का पर्याय है। अप्रस्तुत वस्तु प्रस्तुत से रूप, रंग में मिलती हो। अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है, वह कवि द्वारा लाई जाती है। आचार्य शुक्ल ने इसके लिए अप्रस्तुत विधान और अप्रस्तुत योजना—दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। आजकल 'उपमेय' और 'उपमान' के स्थान पर 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' का अधिक प्रचलन हो गया है। 'उपमान' का प्रयोग केवल औपम्यगर्भ अलंकारों के लिए होता है। किन्तु अप्रस्तुत के क्षेत्र में अन्य

मगिक, अप्राकरणिक, अप्रकृत तथा अप्रधान यहूद . . .
रामदहिन मिश्र ने बाहर से लाई जाने वाली सभी . . .
समावेश किया है। अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, . . .
चाहे कुछ हो—इसके भीतर सब समा जाता है। यह . . . है,
इसमे व्यापकता, संवेदनशीलता और ग्राह्यता है। कवि जितना
सहृदय होगा, उसकी अप्रस्तुत योजना भी उतनी ही मार्मिक
होगी।

उदाहरण—रूप-चित्रण मे उत्प्रेक्षा के माध्यम से अप्रस्तुत योजना '—

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड कर धधक रही हो कात;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में विश्रान्त।

(श्रद्धा के मुँह के लिए आया है।)

(२) विशेषण-विपर्यय (Transferred epithet)—मिल्टन और कीट्स की कविताओं मे इसका अधिक प्रयोग मिलता है। हिन्दी मे निराला और पन्त की कविताओं मे इसका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। जैसे,
"चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा धाम।" (निराला)

व्रज-बालिकाओं की व्याकुलता के लिए 'व्याकुल पनघट' का प्रयोग हुआ है।

ऐसी कविताओं मे विशेषण (१) शुद्ध रूप मे और (२) कृदन्त रूप मे होते हैं। जैसे,

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु मे जीता सिसकता गान है। (पन्त)

'कसकती वेदना' और 'सिसकता गान' कृदन्त रूप मे प्रयुक्त हैं।

विशेष—विशेषण विपर्यय के द्वारा कवि कर्त्ता की अवस्था प्रकट करता है। उसकी कल्पना मे कौन कसकती है? वेदना! वेदना के कसकने का तात्पर्य उसका रह-रह के मन मे आ जाना है।

(३) मानवीकरण (Personification)—'अमानव' में 'मानव' गुणों के आरोप करने की प्रवृत्ति को मानवीकरण कहा जाता है। विज्ञान के लिए दोषयुक्त होते हुए भी मनुष्य-स्वभाव से नि सृत होने के कारण यह कला और साहित्य के क्षेत्र मे ग्राह्य है। सब वस्तु जीवित हैं। (सर्वजीवन्तवाद,

चन्दन विष व्यापे नहीं, लपटे रहत भुजङ्ग।

(६) यथा संख्य—(क्रम)—जहाँ वाक्य में क्रम न्याय मूलक हो। जैसे—

अमिय, हलाहल, मद भरे, स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

(७) परिसंख्या—जहाँ किसी वस्तु की अन्य स्थानों से निषेध कर केवल एक ही स्थान पर प्रतिष्ठा की जाय। जैसे—

(१) मूलन ही की जहां अधोगति केशव गाई।
होम-हुताशन-धूम नगर एकै मलिनाई॥ (केशव)

(२) पत्रा ही तिथि पाइयत, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ईं रहत, आनन ओप उजास॥—बिहारी।

(८) अर्थान्तरन्यास—जहां सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से कथन हो। जैसे—

(१) सामान्य का विशेष से (साधारण कथन का समर्थन विशेष उदाहरण से)

बड़े न हूजै गुनन बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सो कनक, गहनो गढ़ो न जाय॥

(२) विशेष बात का सामान्य कथन से समर्थन—

फिर व्यूह भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो ?
क्या वीर बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहो ?

विशेष—गूढार्थ प्रतीति मूलक अर्थालंकारों में वक्रोक्ति और 'स्वभावोक्ति' अलंकार आते हैं। वक्रोक्ति—शब्दालंकारों में है, 'स्वभावोक्ति' अलंकार पर आगे निबन्ध पढ़ें।

(ख) नए अलंकार

(१) अप्रस्तुत योजना—अप्रस्तुत का अर्थ है जो प्रस्तुत न हो, कहीं से लाया गया हो। यह 'उपमान' का पर्याय है। अप्रस्तुत वस्तु प्रस्तुत से रूप, रंग में मिलती हो। अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है, वह कवि द्वारा लाई जाती है। आचार्य शुक्ल ने इसके लिए अप्रस्तुत विधान और अप्रस्तुत योजना—दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। आजकल 'उपमेय' और 'उपमान' के स्थान पर 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' का अधिक प्रचलन हो गया है। 'उपमान' का प्रयोग केवल औपम्यगर्भ अलंकारों के लिए होता है। किन्तु अप्रस्तुत के क्षेत्र में अप्रा-

संगिक, अप्राकरणिक, अप्रकृत तथा अप्रधान बहुत-सी बातें आ जाती हैं। पं० रामदहिन मिश्र ने बाहर से लाई जाने वाली सभी वस्तुओं का इसके भीतर समावेश किया है। अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहाविरा हो, चाहे कुछ हो—इसके भीतर सब समा जाता है। यह काव्य का जीव-तत्त्व है, इसमें व्यापकता, संवेदनशीलता और ग्राह्यता है। कवि जितना ही सरस और सहृदय होगा, उसकी अप्रस्तुत योजना भी उतनी ही मार्मिक और आनन्ददायक होगी।

उदाहरण—रूप-चित्रण में उत्प्रेक्षा के माध्यम से अप्रस्तुत काल्पनिक योजना :—

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में विश्रान्त।
(श्रद्धा के मुंह के लिए आया है।)

(२) विशेषण-विपर्यय (Transferred epithet)—मिल्टन और कीट्स की कविताओं में इसका अधिक प्रयोग मिलता है। हिन्दी में निराला और पन्त की कविताओं में इसका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। जैसे,
"घन चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा धाम।" (निराला)

व्रज-बालिकाओं की व्याकुलता के लिए 'व्याकुल पनघट' का प्रयोग हुआ है।

ऐसी कविताओं में विशेषण (१) शुद्ध रूप में और (२) कृदन्त रूप में

एनिमिज्म) तथा सब वस्तुएँ राग-द्वेष आदि मानव-गुणों से सम्पन्न हैं। सर्व-मानववाद (एन्थ्रोपोमॉर्फिज्म) और सब वस्तु मन से युक्त हैं (पैन साइकिज्म) इसी प्रवृत्ति के रूपान्तर हैं। जैसे,

(१) नायिका के रूप में 'जूही की कली' का चित्रण :—

'विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न-मग्न
अमल कोमल-तनु तरुणी जूही की कली।' (निराला)

(२) उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भीगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे, सलज्ज,
भोर की तारक द्युति की गोद॥ (प्रसाद)

विशेष—पन्त की 'छाया' और 'बादल' कविता में बड़ा ही सुन्दर प्रयोग हुआ है।

रूपायतना—आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित अयत्नज अलंकार हिन्दी में स्वीकार कर लिए जायँ। अभी तक रीतिकाल के कुमारमणि और रसलीन ने ही इन्हें स्वीकार किया है। इसका प्रयोग नायिका के स्वभाव की मोहकता और रूप-सौन्दर्य-चित्रण की सम्पन्नता के लिए किया जाय। ये क्रमशः शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य नाम से सात प्रकार के माने गए हैं।

उदाहरण—

(क) शोभा—

(१) भूषन भार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा ही कै भार॥ (बिहारी)

(२) चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर है ऐसी॥ (प्रसाद)

एनिमिज्म) तथा सब वस्तुएँ राग-द्वेष आदि मानव-गुणों से सम्पन्न हैं। सर्व मानववाद (एन्थ्रापामार्फिज्म) और सब वस्तु मन से युक्त है (पैन साइकिज्म) इसी प्रवृत्ति के रूपान्तर हैं। जैसे,

(१) नायिका के रूप में 'जूही की कली' का चित्रण :—
'विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न-मग्न
अमल कोमल-तनु तरुणी जूही की कली।" (निराला)

(२) उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भीगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे, सलज्ज,
भोर की तारक द्युति की

विशेष—पन्त की 'छाया' और 'बादल' कविता में
हुआ है।

स्थापना —आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित
में स्वीकार कर लिए जायें। अभी तक रीतिकाल के
ने ही इन्हें स्वीकार किया है। इनका प्रयोग नायिका के
और रूप-सौन्दर्य-चित्रण की भव्यता के लिए किया जाय। ये
कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य नाम से सात प्रकार
गए हैं।

उदाहरण —

(क) शोभा—

(१) भूषन भार संभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, शोभा ही कै भार॥ (बिहारी

(२) चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर है ऐसी॥ (प्रसाद

(ख) दीप्ति अलंकार—

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त, विश्व की करुण कामना मूर्ति।
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण, प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति॥
—प्रसाद (कामायनी

(ग) औदार्य अलङ्कार—

समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार।

एनिमिज्म) तथा सब वस्तुएँ राग-द्वेष आदि मानव-गुणों से सम्पन्न हैं। स
मानववाद (एन्थ्रापामार्फिज्म) और सब वस्तु मन से युक्त है (पैन साइकिज्म
इसी प्रवृत्ति के रूपान्तर हैं। जैसे,

(१) नायिका के रूप में 'जूही की कली' का चित्रण :—
'विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न-मग्न
अमल कोमल-तनु तरुणी जूही की कली।'' (निराला)

(२) उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भीगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे, सलज्ज,
भोर की तारक द्युति क.

विशेष—पन्त की 'छाया' और 'बादल' कविता में
हुआ है।

स्थापना —आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित
में स्वीकार कर लिए जायें। अभी तक रीतिकाल के कुमारम
ने ही इन्हें स्वीकार किया है। इनका प्रयोग नायिका के स्वभ
और रूप-सौन्दर्य-चित्रण की भव्यता के लिए किया जाय। ये
कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य नाम से सात प्रक
गए हैं।

उदाहरण —

(क) शोभा—

(१) भूषन भार संभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, शोभा ही के भार॥ (बिहारी)

(२) चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर है ऐसी॥ (प्रसाद)

(ख) दीप्ति अलंकार—

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त, विश्व की करुण कामना मूर्ति।
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण, प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति॥
—प्रसाद (कामायनी)

(ग) औदार्य अलङ्कार—

समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार।

आज मे यह जीवन उत्सर्ग, इसी पद तल मे विगत विकार।
दया माया ··· · ······ ··· ····· गुना है पाश ॥

—प्रसाद (कामायनी)

विशेष—हिन्दी कविता मे इन अलङ्कारो का भी इसी प्रकार से अत्यन्त ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। अतः इन्हे भी प्रचलित अलङ्कारो की कोटि मे मान्यता मिले। चाहे इनका प्रयोग नायिका के रूप-सौन्दर्य-चित्रण के लिए ही किया जाय।

(२) ध्वनि अलङ्कार, मूर्तिकरण, मैत्री आदि का भी हिन्दी की छाया-वादी कविता मे अधिक व्यवहार हुआ है।

अध्याय ६

छन्द योजना : शास्त्रीय विवेचन

किसी भी भाषा के रूप को सँवारने के लिए जिस पद-योजना और शैली आवश्यक है उसी प्रकार वर्णनीय बनाने के लिए छन्द योजना भी अत्यन्त आवश्यक है। अनुसार 'छन्दयति, आह्लादयति चापि, अमुन् चस्य, छास्य' यही छन्द कहलाता है। बहुत से कोषकारों ने छन्द को है। साहित्य दर्पणकार ने भी 'छन्दोबद्ध पद पद्यम्' बँधे हुए को' ही पद्य कहा है। ये छन्द लघु, गुरु स्वर या वर्ण योजना से बनते हैं। सभ्य या असभ्य सभी देशों में पाई गई हैं। किन्तु यहाँ संस्कृत की उसी ... जिसका प्रभाव हिन्दी वाङ्मय पर सर्वाधिक रूप में पड़ा है। ... कार्य रस या भाव ध्वनित करना ही है।[२] ग्राम्य और अश्लील क्लिष्ट छन्द श्लाघ्य है।[३] 'गति का संयम भी छन्द कहलाता है।'[४] संसार सब रचनाएँ तीन रूपों में पाई जाती है—पद्य, गद्य और गीत। गीतों में की प्रधानता है। संगीत शास्त्रज्ञों का मत है कि तीनों जगत् के लोगों का चित्त जिससे रंजित या प्रसन्न होता हो उसे राग कहते है।[५] हमारे यहाँ वेद की

१—क्षेमेन्द्र (सुवृत्त-तिलक)—काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥

२—रसभावानुकूल १ छन्द प्रयोगो कार्यः। अभिनव ना० शा० पृ० ३१६।

३—अश्लील-ग्राम्य क्लिष्टत्व-दोषरहितश्छन्दः श्लाघ्यम्। वही।

४—गति संयमश्छन्दः ॥ वही, पृ० ३१७

५—देखिए—सङ्गीत दर्पण

योऽयंध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णाविभूषतः :
रञ्जकोजनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥
यैस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगत्त्रिपवर्तिनाम्।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः ॥

तथा,
यस्यश्रवण मात्रेण रज्यन्ते सकलाः ...।
सर्वानुरंजनाद्धेतोस्तेन राग इति

'छन्दस्' कहा है। किन्तु वेद की भाषा भी तीनों रूपों में प्रयुक्त भाग को ऋक् या मंत्र कहते हैं, गीत भाव को साम और अंश को यजु. और कुछ को ब्राह्मण कहते हैं। किन्तु विचित्र सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में केवल सात छन्दों का ही प्रय गायत्री, २—उष्णिक, ३—अनुष्टुप्, ४—बृहती, ५—पं ७—जगती। इनमे गायत्री मे तीन चरण, चौबीस अक्षर मे चालीस, उष्णिक् मे अट्ठाईस, अनुष्टुप में बत्तीस, बृह मे चौवालीस और जगती मे अड़तालीस वर्ण होते हैं। व मे इनके भी बहुत से भेद कर दिये हैं। इन्ही सात प्रकार के पीछे के कवियो ने जो बहुत प्रकार के छन्द बना लिए उन्हे कहते हैं।

अभी तक छन्द योजना के पारिभाषिक पक्ष पर भारतीय आचार्यों मत व्यक्त किए गए हैं। किन्तु ससार के प्रायः सभी देशो मे इस प्रकार की सयमित एव सन्तुलित शैली का प्रचलन है। वास्तव में इस योजना का वाङ्मय मे मुख्य प्रयोजन यह है कि इससे अर्थ सौन्दर्य, ध्वनि-सौन्दर्य और रूप-सौन्दर्य मे सहायता प्राप्त होती है। वास्तव मे किसी देश की भाषा उस देश-निवासियो का अत्यन्त ललित और मनोहर साधन हुआ करती है। उसके प्रत्येक अंश मे उसकी विशिष्ट मोहकता रहती है। इसीलिए छन्द का सीधा सम्बन्ध संगीत से जुड़कर अर्थ-सौन्दर्य और ध्वनि सौन्दर्य की सृष्टि करता है। छन्द एक ऐसा साधन है जिसमे किसी भी वस्तु को हम अधिक देर तक स्मृति मे स्थिर रख सकते हैं। पढने मे स्निग्धता, माधुर्य और गति प्राप्त होती है। यो तो 'छन्द' का अर्थ है—शासन अर्थात् शब्द-प्रवाह को सयमित करना। यह सयम पद, मात्रा या वर्ण, यति, गति आदि से होता है। योरोप के छन्द शास्त्रियो ने छन्द की प्रकृति और उसके उद्देश्य की व्याख्या करते हुए विभिन्न प्रकार की परिभाषाएँ की हैं,[१]

१—(क) छन्द वह रीति है जिसके द्वारा दो अवधियों के शब्द एक प्रकार मे ध्वनित किए जायें। (अरस्तू)
(ख) एक जैसे ध्वनि समूहों की आवृत्ति ही छन्द है। (ब्लेयर)
(ग) दो पदों के अन्त में दो ध्वनि मात्राओं की मिलती हुई एक-सी ध्वनि वाले पद्य को छन्द कहते हैं।—(ग्रुएले)
(घ) एक प्रकार से व्यवस्थित ध्वनि वाली मात्रा-ध्वनियों की विशेष क्रम से रखने को छन्द कहते हैं।—(एड्विन गेस्ट)

छन्द योजना : शास्त्रीय विवेचन

किसी भी भाषा के रूप को सँवारने के लिए जिस प्रकार शब्द-योजना, पद-योजना और शैली आवश्यक है उसी प्रकार वर्णनीय वस्तु को सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए छन्द योजना भी अत्यन्त आवश्यक है।[1] व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार 'छन्दयति, आह्लादयति चाति, अमृत् चम्म, छादय' अर्थात् जो प्रसन्न करे वही छन्द कहलाता है। बहुत से कोषकारों ने छन्द को पद्य का पर्याय माना है। साहित्य दर्पणकार ने भी 'छन्दोबद्धं पद पद्यम्' अर्थात् 'विशिष्ट छन्द में बँधे हुए पदों' को पद्य कहा है। ये छन्द लघु, गुरु स्वर या मात्रा की नियमित वर्ण योजना से बनते हैं। सभ्य या असभ्य सभी देशों में छन्दोबद्ध रचनाएँ होती पाई गई हैं। किन्तु यहाँ संस्कृत की उसी छन्दोबद्ध प्रणाली का उल्लेख है जिसका प्रभाव हिन्दी वाङ्मय पर सर्वाधिक रूप में पड़ा है। छन्दों का प्रमुख कार्य रस या भाव ध्वनित करना ही है।[2] ग्राम्य और अश्लील क्लिष्ट-पद-रहित छन्द श्लाघ्य है।[3] 'गति का संयम भी छन्द कहलाता है।'[4] संसार भर की सब रचनाएँ तीन रूपों में पाई जाती हैं—पद्य, गद्य और गीत। गीतों में राग की प्रधानता है। संगीत शास्त्रज्ञों का मत है कि तीनों जगत् के लोगों का चित्त जिससे रंजित या प्रसन्न होता हो उसे राग कहते हैं।[5] हमारे यहाँ वेद को

१—क्षेमेन्द्र (सुवृत्त-तिलक)—काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥

२—रसभावानुकूल १ छन्द प्रयोगो कार्यः। अभिनव ना० शा० पृ० ३१६।

३—अश्लील-ग्राम्य-क्लिष्टत्व-दोषरहितश्छन्दः श्लाघ्यम्। वही।

४—गति संयमश्छन्दः॥ वही, पृ० ३१७

५—देखिए—संगीत दर्पण

योऽयंध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषतः।
रञ्जकोजनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः॥
यैस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगत्त्रिपवर्तिनाम्।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः॥

अपरञ्च,

यस्यश्रवण मात्रेण रज्यन्ते
सर्वानुरंजनाद्धेतोस्तेन राग इति।

'छन्दस्' कहा है। किन्तु वेद की भाषा भी तीनों रूपों में प्रयुक्त है। वेद के पद्य-भाग को ऋक् या मंत्र कहते हैं, गीत भाव को साम और गद्य-भाषा के कुछ अंश को यजु और कुछ को ब्राह्मण कहते है। किन्तु विचित्र बात यह है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में केवल सात छन्दों का ही प्रयोग हुआ है—१, गायत्री, २—उष्णिक्, ३—अनुष्टुप्, ४—बृहती, ५—पंक्ति, ६—त्रिष्टुप, ७—जगती। इनमे गायत्री मे तीन चरण, चौबीस अक्षर या स्वर वर्ण, पंक्ति मे चालीस, उष्णिक् मे अट्ठाईस, अनुष्टुप मे बत्तीस, बृहती मे छत्तीस, त्रिष्टुप् मे चौवालीस और जगती मे अड़तालीस वर्ण होते हैं। कात्यायन ने कालान्तर मे इनके भी बहुत से भेद कर दिये है। इन्ही सात प्रकार के ही वैदिक छन्दो से पीछे के कवियो ने जो बहुत प्रकार के छन्द बना लिए उन्हे लौकिक छन्द कहते हैं।

अभी तक छन्द योजना के पारिभाषिक पक्ष पर भारतीय आचार्यों के ही मत व्यक्त किए गए हैं। किन्तु संसार के प्रायः सभी देशो मे इस प्रकार की सयमित एव सन्तुलित शैली का प्रचलन है। वास्तव मे इस योजना का वाङ्मय मे मुख्य प्रयोजन यह है कि इससे अर्थ सौन्दर्य, ध्वनि-सौन्दर्य और रूप-सौन्दर्य मे सहायता प्राप्त होती है। वास्तव मे किसी देश की भाषा उस देश-निवासियो का अत्यन्त ललित और मनोहर साधन हुआ करती है। उसके प्रत्येक अंश मे उसकी विशिष्ट मोहकता रहती है। इसीलिए छन्द का सीधा सम्बन्ध संगीत से जुड़कर अर्थ-सौन्दर्य और ध्वनि सौन्दर्य की सृष्टि करता है। छन्द एक ऐसा साधन है जिससे किसी भी वस्तु को हम अधिक देर तक स्मृति मे स्थिर रख सकते हैं। पढ़ने मे स्निग्धता, माधुर्य और गति प्राप्त होती है। यों तो 'छन्द' का अर्थ है—शासन अर्थात् शब्द-प्रवाह को संयमित करना। यह संयम पद, मात्रा या वर्ण, यति, सगति आदि से होता है। योरोप के छन्द शास्त्रियो ने छन्द की प्रकृति और उसके उद्देश्य की व्याख्या करते हुए विभिन्न प्रकार की परिभाषाएँ की है,[१]

१—(क) छन्द वह रीति है जिसके द्वारा दो अवधियों के शब्द एक प्रकार से ध्वनित किए जायें। (अरस्तू)

(ख) एक जैसे ध्वनि समूहों की आवृत्ति ही छन्द है। (क्लेयर)

(ग) दो पदों के अन्त मे दो ध्वनि मात्राओं की मिलती हुई एक-सी ध्वनि वाले पद्य को छन्द कहते हैं।—(ग्रूसे)

(घ) एक प्रकार से व्यवस्थित ध्वनि वाली मात्रा-ध्वनियों की विशेष क्रम से रखने को छन्द कहते हैं।—(एडविन गेस्ट)

विभिन्न प्रकार के वर्ण पृथक्-पृथक् रस, भाव तथा अलंकार आदि के व्यंजक हैं वैसे ही उन रसों की व्यंजना के लिए काव्य में भिन्न-भिन्न भी किया जाता है। भाषा की रूप-सज्जा के लिए केवल शब्द नहीं है, उसके लिए छन्द-योजना भी अपेक्षित है। महाकवि 'सुवृत्त तिलक ग्रन्थ' में छन्द योजना के विषय में नियम लिखते "सर्ग के प्रारम्भ में; कथा-विस्तार कम करने के लिए, उचित वृत्तान्त कहने में सज्जन लोग 'अनुष्टुप' का प्रयोग करते हैं। उपजाति शृङ्गार, उसके आलम्बन तथा नायिका के रूप-वर्णन और वसन्त तथा उसके अंगों का वर्णन किया जाता । विभाव अर्थात् चन्द्रोदयादि उद्दीपन में रथोद्धता छन्द का और षाड्गुण्य नीति का वर्णन वंशस्थ छन्द में शोभा देता है। वीर और रौद्र के मेल में वसन्ततिलका और सर्ग के अन्त में द्रुत तालवाली मालिनी

१—आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तार संग्रहे।
समोपदेश वृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥
शृङ्गारालम्बनोदार नायिका रूप वर्णनम्।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छा यमुपजातिभिः ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदया दषु।
षाड्गुण्य प्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलकं भाति सङ्करे वीर रौद्रयोः।
कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ॥
उपपन्न परिच्छेद काले शिखरिणी मता।
औदार्य रुचिरौ चित्य-विचारे हरिणी मता ॥
साक्षेप क्रोध धिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा।
प्रावृट् प्रवास व्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूल विक्रीडितं मतम्।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता ॥
दोधकतोटक नकुट युक्तं मुक्तकमेव विराजित सूक्तम्।
निर्विषयस्तु रसा दषु येषां निर्नियमस्य सदा विनियोगः॥
शेषाणामप्यनुक्तानां वृत्तानां विषयं विना।
औचित्य मात्रप्राप्तो विनियोगो न दर्शितः ॥
इत्येष वरवर्ण कथा सदृश-भ्रम गिरम्।
छन्दो विभाग. सद्वृत्तैर्निबद्धो विमिश्रवान् ॥

किन्तु उसके साथ तथा उत्पन्न करने वाले प्रभाव पर ध्यान नहीं दिया है। काव्य में छन्द योजना रस और भाव के अनुकूल होनी चाहिए। छन्द स्वतः सुन्दर होता है। इसीलिए संगीत से भी उसका सीधा सम्बन्ध है। छन्द योजना में यति और गुरु के अनुसार ताल और लय का क्रम भी बंधता चलता है। छन्द केवल लय का ही सहायक नहीं होता वरन् उससे माधुर्य भाव की सृष्टि होती है। हमारे भारतीय छन्द-शास्त्रियों में महर्षि पिंगल सबसे अधिक प्राचीन हैं तथा उनका छन्द-शास्त्र सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसमें एक करोड़ सड़सठ लाख सतहत्तर सहस्र दो सौ सोलह प्रकार के वर्ण वृत्तों का उल्लेख है, जिसमें लगभग पचास ही छन्द लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त हुए हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि लौकिक छन्द पहले-पहल महर्षि वाल्मीकि ने बनाया। क्रौञ्च के जोड़ों में एक को बाण से बिद्ध देखकर तथा दूसरे को उसी के साथ चिल्लाता हुआ देखकर सहसा ऋषि-हृदय द्रवित हो उठा और वे कह पड़े—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह सुनकर वन-देवता को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह तो वैदिक छन्दों से अलग एक नया ही छन्द बन गया है।[१] स्वयं वाल्मीकि को भी आश्चर्य हुआ कि मैंने क्या कह डाला![२] किन्तु यह सर्व मान्य है कि इनका मुख्य स्रोत वेद ही है।

छन्द योजना का काव्य में महत्त्व—जैसे विभिन्न प्रकार के वर्णों के उच्चारण के लिए विभिन्न प्रकार से कण्ठतालु के अभिघातों का भेद है और जैसे

(ङ) छन्द वह ध्वन्यात्मक आवृत्ति है, जो पद्य को छन्दोबद्ध रचना में व्यवस्था उत्पन्न करता है।—(फिर मुन्सकी)

(च) दो या कई वाक्यों को एक समान तुकान्त करने की कवि-कुशलता को छन्द कहते हैं।—(विक्तीलियन)

(छ) छंद कान के लिए है, आँख के लिए नहीं—(प्रामो)

(ज) कविता तो संगीत का एक प्रकार है।—(सिडनी लैनियर और हेनरी लोग)

१—चित्रं आम्नायादन्योऽयं नूतनश्छन्द सामवतारः।
२—'किमिदं व्याहृतं मया।' वाल्मीकि रामायण १, २, १६

विभिन्न प्रकार के वर्ण पृथक्-पृथक् रस, भाव तथा अलंकार आदि के व्यंजक हैं वैसे ही उन रसों की व्यंजना के लिए काव्य में भिन्न-भिन्न ... भी किया जाता है। भाषा की रूप-सज्जा के लिए ... नहीं है, उसके लिए छन्द-योजना भी अपेक्षित है। महाकवि 'सुवृत्त तिलक ग्रन्थ' में छन्द योजना के विषय में नियम लिखते ... "सर्ग के प्रारम्भ में; कथा-विस्तार कम करने के लिए, ... वृत्तान्त कहने में सज्जन लोग 'अनुष्टुप' का प्रयोग करते हैं। उपजाति शृङ्गार, उसके आलम्बन तथा नायिका के रूप-वर्णन और वसन्त तथा ... अंगों का वर्णन किया जाता ... । विभाव अर्थात् चन्द्रोदयादि उद्दीपन में रथोद्धता छन्द का और षाड्गुण्य नीति का वर्णन वंशस्थ छन्द में शोभा देता है। वीर और रौद्र के मेल में वसन्ततिलका और सर्ग के अन्त में द्रुत तालवाली मालिनी

१—प्रारम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तार संग्रहे।
समोपदेश वृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥
शृङ्गारालम्बनोदार नायिका रूप वर्णनम्।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु।
षाड्गुण्य प्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलकं भाति सङ्करे वीर रौद्रयोः।
कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ॥
उपपन्न परिच्छेद काले शिखरिणी मता।
औदार्य रुचिरौ चित्र-विचारे हरिणी मता ॥
साक्षेप क्रोध धिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा।
प्रावृट् प्रवास व्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूल विक्रीडितं मतम्।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता ॥
दोधकतोटक नर्कुटयुक्तं मुक्तकमेव विराजित सूक्तम्।
निर्विषयस्तु रसादिषु तेषां निर्नियमस्य सदा विनियोगः ॥
शेषाणामप्यनुक्तानां वृत्तानां विषयं विना।
वैचित्र्य मात्रमात्राणां विनियोगो न दर्शितः ॥
इत्येष वारदव ... सर्ववृत्त-क्रम ...।
अतो विभागः ... ॥

किन्तु उनके नाम तथा उत्पादित करने वाले प्रभाव पर ध्यान नहीं दिया है। काव्य में छन्द योजना रस और भाव के अनुकूल होनी चाहिए। छन्द स्वतः सुन्दर होता है। इसीलिए संगीत से भी उसका सीधा सम्बन्ध है। छन्द योजना में वर्ण और गुरु के अनुसार ताल और लय का क्रम भी बंधता चलता है। छन्द केवल लय का ही सहायक नहीं होता वरन् उससे माधुर्य भाव की पुष्टि होती है। हमारे भारतीय छन्द-शास्त्रियों में महर्षि पिंगल सबसे अधिक प्राचीन हैं तथा उनका छन्द-शास्त्र सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसमें एक करोड़ सड़सठ लाख सतहत्तर सहस्र दो सौ सोलह प्रकार के वर्ण वृत्तों का उल्लेख है, जिसमें लगभग पचास ही छन्द लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त हुए हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि लौकिक छन्द पहले-पहल महर्षि वाल्मीकि ने बनाया। क्रौंच के जोड़े में एक को बाण से विद्ध देखकर तथा दूसरे का उसी के साथ चिल्लाना हुआ देखकर सहसा ऋषि-हृदय द्रवित हो उठा और वे कह पड़े—

'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह सुनकर वन-देवता को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह तो वैदिक छन्दों से अलग एक नया ही छन्द बन गया है।[१] स्वयं वाल्मीकि को भी आश्चर्य हुआ कि मैंने क्या यह टाला ![२] किन्तु यह सर्व मान्य है कि इनका मुख्य स्रोत वेद ही है।

छन्द योजना का काव्य में महत्त्व—जैसे विभिन्न प्रकार के वर्णों के उच्चारण के लिए विभिन्न प्रकार से कण्ठतालु के अभिघातों का भेद है और जैसे

(ङ) छन्द वह ध्वन्यात्मक आवृत्ति है, जो पद्य को छन्दोबद्ध रचना में व्यवस्था उत्पन्न करता है।—(फिर सुन्दरी)

(च) दो या कई वाक्यों की एक समान तुकान्त करने के कवि-कुशलता को छन्द कहते हैं।—(क्विन्तीलियन)

(छ) छंद कान के लिए है, आँख के लिए नहीं—(आमो)

(ज) कविता तो संगीत का एक प्रकार है।—(सिडनी लेनियर और हेनरी लोज)

१—चित्रं आम्नायादन्योऽयं नूतनश्छन्द सामवतारः।
२—'किमिदं व्याहृतं मया।' वाल्मीकि रामायण १, २, १६

के लिए छन्द का उपयोग किया जाता रहा है। छन्द शास्त्र के रचयिता पि
चार्य हैं। उन्हीं के नाम से इसे पिंगल शास्त्र भी कहा जाता है।

जो रचना मात्रा, वर्ण-संख्या, विराम, गति (लय) तथा तुक आदि के नियमों की दृष्टि से शुद्ध होती है, उसे पद्य कहते हैं।

छन्द—पद्य के अधिक सजीले तथा विशिष्ट रूप को 'छन्द' कहा गया है। 'छन्द का हमारी संवेदनशीलता से भी घनिष्ठ संबंध है'—रिचर्ड्स। इसी लिए इन्हें कविता की प्रकृति भी माना गया है।

मात्रा और गण विचार

मात्रा—किसी भी वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं।

मात्राएँ दो प्रकार की होती हैं—(१) ह्रस्व (लघु) (।), (२) दीर्घ (गुरु) (S) .

ह्रस्व (लघु) एक मात्रा वाले वर्ण को कहते हैं। यथा, क।

दीर्घ (गुरु)—इनके उच्चारण में लघु से दुगना समय लगता है। यथा, का।

गुरु और लघु मात्राओं को समझने के लिए निम्नलिखित नियम हैं :—

(१) संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण गुरु माना जाता है। जैसे, भक्त, रक्षक, वर्ण और लड्डू। जिन संयुक्ताक्षरों के पूर्व वर्णों के उच्चारण में अधिक जोर नहीं पड़ता वे लघु ही रहते हैं। जैसे, कुम्हार, हास्य, वन्य, सह्य आदि।

(२) अनुस्वार और विसर्ग वाले वर्ण गुरु होते हैं। जैसे—सत, पक, दुःख और पुनः चन्द्र बिन्दु वाले वर्ण गुरु नहीं माने जाते। जैसे—हँसना, फँसना आदि।

(३) हलन्त के पूर्व का वर्ण गुरु होता है। जैसे—राजन्, महात्मन्, सलगन् आदि हल् वर्ण की मात्रा नहीं मानी जाती।

(४) कहीं-कहीं लय और प्रवाह का दृष्टि से गुरु वर्ण लघु और लघु वर्ण गुरु माने जाते हैं। जैसे, मोहि में 'मो' लघु वर्ण है।

अन्तिम लघु वर्णों को विकल्प से दीर्घ पढ़ा जाता है।

गण-विचार

गण—तीन वर्णों के सार्थक अथवा निरर्थक समूह को गण कहते हैं। लघु और गुरु वर्णों के भेद से वर्णों में ८ गण होते हैं जिनके नाम और लक्षण निम्नलिखित सूत्र में निहित हैं :—

का प्रयोग किया जाना चाहिए। परिच्छेद या विभाजन करने के लिए शिखरिणी का प्रयोग हो तथा उदाहरण, रुचि और औचित्य का विचार करने में हरिणी का प्रयोग हो। राजाओं के द्वारा आक्षेप, क्रोध तथा धिक्कार, दुःख और वर्षा-प्रवास में मन्दाक्रान्ता छन्द, राजाओं का शौर्य-वर्णन करने में स्रग्धरा तथा दोधक; मुक्तक सूक्तियों के लिए तोटक और नर्हट का प्रयोग होना चाहिए।"

इसी प्रकार सफलता के लिये प्रस्थान या प्राप्ति में अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, निराशा के साथ निवृत्ति में तोटक, कृतकृत्यता में शालिनी, वृथा वीरता प्रदर्शन में औपच्छन्दसिक क्रीडा के वर्णन में रथोद्धता, संयोग से स्वयं प्राप्त विपत्ति या सम्पत्ति में स्वागता, घबराहट में मत्तमयूर, प्रपञ्चों का परित्याग करने में नाराच तथा वीरता आदि के वर्णन में शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग किया गया है। भारतीय वाङ्मय में जितनी सूक्ष्मता से इस शास्त्र पर विचार किया गया है उतनी सूक्ष्मता और विचार के साथ अन्य किसी देश में नहीं हुआ। छन्द-योजना केवल पद्य-रचना के लिए नहीं थी वरन् इसमें प्रत्येक ध्वनि की विशेषता, उसके विभिन्न प्रयोग, भाव तथा रस से उसका सम्बन्ध और उन सम्बन्धों के माध्यम से परिणाम तक पहुँचने की कल्पना भी सन्निहित थी। महाकवियों ने वस्तु, भाव तथा रस के प्रभाव को स्थिर तथा पुष्ट रखने के लिए योग्य छन्दों का प्रयोग करके भाषा के रूप (Form) को अपनी छन्द-योजना शक्ति से अत्यन्त ही भव्यता के साथ निर्मित किया है। हिन्दी में जितने छन्द प्रयुक्त हुए हैं उनमें से अधिकांश संस्कृत पिंगल पर ही अवलम्बित हैं। हां, हिन्दी साहित्य के रीति-काल में कुछ मौलिक छन्दों का भी निर्माण हुआ है, जिनका प्रयोग संस्कृत साहित्य में नहीं हुआ है। साथ-ही हिन्दी के कुछ अपने मौलिक छन्द भी हैं जिनका विकास अपभ्रंश की मूल प्रकृति में हिन्दी तक हो सका है। किन्तु खेद है, कि इस सम्बन्ध में हिन्दी का मौलिक छन्द-शास्त्र अभी तक निर्मित नहीं हो सका है।

छन्द (साहित्यिक विवेचन)

डा० जॉनसन ने लिखा है, "कविता पद्यमय निबन्ध है।" कार्लाइल का मत है कि 'कविता संगीतमय विचार है।' इसके अनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने कविता और पद्य का अटूट संबंध माना है। भारतीय आचार्यों ने सिद्धान्त की दृष्टि से छन्द को कविता का अनिवार्य उपकरण नहीं माना है। इसी से साहित्य शास्त्र के अधिकांश ग्रन्थों में छन्द-प्रकरण नहीं है। सिद्धान्ततः कविता पर छन्द का अंकुश नहीं लगाया जा सकता। किन्तु उसे रोचक और प्रभावशाली बनाने

के लिए छन्द का उपयोग किया जाता रहा है। छन्द शास्त्र के रचयिता पिंगलाचार्य हैं। उन्हीं के नाम से इसे पिंगल शास्त्र भी कहा जाता है।

जो रचना मात्रा, वर्ण-संख्या, विराम, गति (लय) तथा तुक आदि के नियमों की दृष्टि से शुद्ध होती है, उसे पद्य कहते हैं।

छन्द—लय के अधिक लचीले तथा विशिष्ट रूप को 'छन्द' कहा गया है। 'छन्द का हमारी संवेदनशीलता से भी घनिष्ठ संबंध है'—रिचर्ड्स। इसी लिए इन्हें कविता की प्रकृति भी माना गया है।

मात्रा और गण विचार

मात्रा—किसी भी वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं।

मात्राएँ दो प्रकार की होती हैं—(१) ह्रस्व (लघु) (।), (२) दीर्घ (गुरु) (S)

ह्रस्व (लघु) एक मात्रा वाले वर्ण को कहते हैं। यथा, क।

दीर्घ (गुरु)—इनके उच्चारण में लघु से दुगना समय लगता है। यथा, का।

गुरु और लघु मात्राओं को समझने के लिए निम्नलिखित नियम हैं :—

(१) संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण गुरु माना जाता है। जैसे, भक्त, रक्षक, वर्ण और लट्टू। जिन संयुक्ताक्षरों के पूर्व वर्णों के उच्चारण में अधिक जोर नहीं पड़ता वे लघु ही रहते हैं। जैसे, कुम्हार, हास्य, कन्य, सह्य आदि।

(२) अनुस्वार और विसर्ग वाले वर्ण गुरु होते हैं। जैसे—मन, पङ्क, दुःख और पुनः चन्द्र विन्दु वाले वर्ण गुरु नहीं माने जाते। जैसे—हँसना, फँसना आदि।

(३) हलन्त के पूर्व का वर्ण गुरु होता है। जैसे—राजन्, महात्मन्, जलगम् आदि हल् वर्ण की मात्रा नहीं मानी जाती।

(४) कहीं-कहीं लय और प्रवाह की दृष्टि से गुरु वर्ण लघु और लघु वर्ण गुरु माने जाते हैं। जैसे, मोहि में 'मो' लघु वर्ण है।

अन्तिम लघु वर्णों को विकल्प से दीर्घ पढ़ा जाता है।

गण-विचार

[illegible] को गण कहते हैं।

'य माता राज भान सलगम्'

१—अन्त के 'ल' से लघु (।) और ग से गुरु (S) मानिए।

२—य से स तक—८ गण हैं। जैसे, यगण, मगण, तगण रगण, जगण, भगण, नगण, सगण।

३—किसी गण के पहले वर्ण से क्रमशः तीन वर्णों को एक साथ

। S S

लीजिए जिससे लक्षण ज्ञात हो जाय। जैसे—यगण के लिए—'य मा ता'

४—पिंगल शास्त्र मे (म न भ य) गण शुभ है तथा शेष चार गण (ज र स त) अशुभ होते हैं।

नीचे पिंगलशास्त्र मे प्रत्येक गण के देवता तथा उनके फल भी बताए गए हैं :—

छन्द-भेद

छन्द दो प्रकार के होते हैं—(१) मात्रिक (२) वर्णिक।

मात्रिक छन्द—जिनमें लघु-गुरु के विचार से मात्राएं नियत रहती हैं तथा इनकी गणना को सुगम करने और मात्राओं के क्रम की व्यवस्था करने के लिए गणों की कल्पना की गई है।

वर्णिक छन्द—जो वर्णों की संख्या के आधार पर आधारित होते हैं। संस्कृत वर्ण-वृत्तों में वर्णों की संख्या के अतिरिक्त गुरु-लघु का भी क्रम होता है। कुछ ऐसे भी वर्ण-वृत्त हैं जिनमें केवल वर्णों की संख्या ही नियत है, जैसे, कवित्त। छन्द-विवरण निम्नलिखित क्रम से प्रस्तुत किया जाता है :—
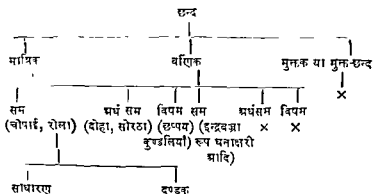
मात्रिक सम छन्द

(१) चौपाई—प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं : अन्त में दो गुरु। किन्तु जगण अथवा तगण न हो। जैसे—

।ऽ।ऽ। ।।। ।। ऽऽ
भये कुमार जबहि सब भ्राता। = १६ मात्राएँ
दीन्हि जनेउ गुरू पितु माता।।

(२) रोला (काव्य छन्द)—प्रत्येक चरण में ११ और १३ के विराम से २४ मात्राएं।

ऽऽ ।।।।ऽ। ।ऽ ऽ।। ।। ऽऽ
जाके प्रति पद माँहि कला चौबिस गनि राखें। = २४ मात्राएँ।
रोला अथवा काव्य-छन्द ता कहँ कवि भाखें।।

नियम न लघु गुरु केर राने अन्तै गुरु होई।
ग्यारह पर विश्राम और तेरह पर होई॥
विशेष—रोला कल चोबीस, रुद्र, यति ता यति धारी।

(३) उल्लाला—प्रत्येक चरण में ८, ५ के विश्राम से १३ मात्रा होती हैं।

S S S S S I II
हिन्दी के उद्धार हित = १३ मात्रायें
कष्ट अनेकन जिन सहे।
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को,
कीर्ति सदा उज्ज्वल रहे॥

(४) गीतिका—प्रत्येक चरण में १४, १२ के विराम से २६ मात्राएँ तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं मात्राएँ लघु; अन्त में रगण (S I S) होना चाहिए।

S I S S S I S S S I S I I S I S
मातृ भू-सी मातृ-भू है, अन्य से तुलना कही, = २६ मात्रायें
यत्न से भी ढूँढने पर, मिल हमें सकती नहीं।

(५) हरिगीतिका—शृंगार, दिनकर यति चरम लग गाइए हरिगीतिका।
१६, १२ के विराम से २८ मात्राएँ।

I I I S S S S I S I I I I I I I I I S I S
मुनि धरो धीरा सिद्ध संतत, विमल मन जेहि ध्यावहीं। = २८
कहि नेति निगम पुराण आगम, जासु कीरति गावही॥

मात्रिक अर्ध सम

(१) दोहा—विषम चरणों में १३ और सम चरणों में ११ : अन्त में लघु वर्ण।

I I I I I I S S I I I I I I I I I I I S I
सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। = २४ मात्रायें
हानि लाभु जीवन मरनु जसु अपजसु विधि हाथ॥

(२) सोरठा—'दोहा उल्टे सोरठा।' विषम ११, सम १३ = २४ मात्रायें

S I I S I I S I I I I I I I S I I I I I
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन। = २४ मात्राएँ
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन॥

मात्रिक विषय

(१) कुण्डलिया—इसमें छः चरण होते हैं। पहले दोहा, उसके पश्चात् उसी में रोला। दोहे का अन्तिम पद रोले का प्रथम चरण होता है। प्रथम चरण का प्रथम शब्द अन्तिम चरण का अन्तिम शब्द होता है। जैसे—

आछी भाँति सुधारि कै, खेत किसान बिजोय।
तब पीछे पछतायगो, समै गयो जब खोय॥
समै गयो जब खोय, नहीं फिर खेती ह्वै है।
लै है हाकिम पोत, कहा तब ताको दै है॥
बरनै दीनदयाल, चालि तू तजि अब पाछी।
सोउन सालि सँभालि, विहंगन ते विधि आछी॥

(२) छप्पय—इसमें छः चरण: प्रथम चार रोला के और अन्तिम दो उल्लाला के होते हैं।

प्रभो! पाप का पुंज, कलह का कुंज दूर हो।
अपनों तल उत्साह और सद्धर्म पूर हो॥
रहे न निर्धन दीन, न भारत विपद चूर हो।
रहें सदा निर्भीक, यशी रण वीर शूर हो॥
हे विश्वम्भर घर-घर यहाँ, श्रुतियों के उच्चार हों।
उद्धार धर्म का हम करें, सच्चे आर्य कुमार हों॥

वर्ण वृत्त-सम

(१) इन्द्र वज्रा—"ता ता जा गा गा शुभ इन्द्र वज्रा" = ११ वर्ण

उदाहरण—विद्यार्थियो नित्य उठो सवेरे,
आलस्य रूपी अरि को भगाओ।
जागो पढ़ो ध्यान लगाय सारा,
होगा नहीं तो सब जन्म खारा॥

(२) वसन्त तिलका—"गाओ वसन्त तिलका तू भजो जगेगा" = १४ वर्ण

उदाहरण—भू में रमी शरद की कमनीयता थी।
नीला अनन्त नभ निर्मल हो गया था॥
थी छा गई ककुभ में अमिता सिताभा।
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभास होती॥

(३) मन्दाक्रान्ता—वर सुमति को 'माभनो तान गा गा' = १७ वर्ण

उदाहरण—तारे डूबे, तम टल गया, छा गई व्योम लाली।
पंछी बोले, तमचुर जगे, ज्योति फैली दिशा में॥

(४) मालिनी—'न न मि य य' ह धारो मालिनी मुक्तिदन्या।
=१५ वर्ण

यथा, निज मन्दिर छज्जे को बरों माद पाके।
कुछ समय यशोदा ने सुनी सर्व बातें॥
फिर बहु-विकला हो, व्यग्र हो, कंपिता हो।
निज सुमन-सुता से यों व्यथा साथ बोली॥

(५) वंशस्थ—दिखात वंशस्थ 'ज ता ज रा वरो'=१२ वर्ण

यथा, कदापि गाते रहते निकुंज में।
कदापि जाते फिर थे प्रसून के॥
बने महा नीरव शान्त संयमी।
कदापि पीते मधु को निमिष पे॥

(६) शिखरिणी—'य म न स भा लगी' शिखरिणी।=१७ वर्ण।

उदाहरण—अनूठी आभा से सरस सुषमा से सुरस से।
बना जो देता था बहुगुणमयी भू विपिन को॥

(७) शार्दूल विक्रीड़ित—प्रत्येक चरण में म गण, स गण, ज गण, स गण, त गण, त गण तथा अन्त में गुरु होता है। १२, ७ पर यति १९ वर्ण।

उदाहरण—फूले कंज समान मंजु दृगता थी मत्त कारिणी।
सोने सी कमनीय कांति तन की थी दृष्टि उन्मेषिणी॥

(८) सवैया—२२ से २६ वर्णों तक के वृत्त सवैया कहलाते हैं। इसके कई भेद हैं। यथा,

मदिरा—७ भगण और अन्त में एक गुरु=२२ वर्ण।

उदाहरण—देखि कहाँ तव रावण सों अब देखि चढ़ाउ वरासन को।
बात बनाइ बनाइ कहा कह छाँड़िय आनन बानन को॥
जानत है किधों जानत नाहिन तु अपने मद कानन को।
ऐसहि कैसे मनोरथ पूजत पूजे बिना हर शासन को॥

(९) मत्तगयन्द सवैया—७ भगण और अन्त में दो गुरु=२३ वर्ण

उदाहरण—
सीस पगा न झगा तन में, प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँव उपानह की नहिं सामा॥

द्वार खड़यो द्विज दुर्बल देखि, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

(१०) सुन्दरी—८ सगण और अन्त मे एक गुरु = २५ वर्ण।

उदाहरण—

पद कोमल स्यामल गौर कलेवर, राजत कोटि मनोज सजाये।
कर बान सरासन, सीस जटा, सरसीरुह लोचन सोन सुहाये॥
जिन देखे, सखी! सतभायहु ते 'तुलसी' तिन तौ मन फेरि न पाये।
यह मारग आज किसोर वधू, बिधु बैनि समेत सुभाय सिधाये॥

मुक्तक छन्द—

(१) ये वर्णवृत्त गणो की गणना से मुक्त होते हैं।
(२) छन्दो मे वर्ण-सख्या और कही कही लघु-गुरु का विचार होता है।
(३) इन्हे वर्णिक दण्डक छन्द अथवा कवित्त भी कहते हैं।
(४) इनके प्रत्येक चरण मे २६ वर्ण से अधिक होते हैं।

(१) मनहर (कवित्त)—इसके प्रत्येक चरण मे ३१ वर्ण होते हैं जिसके १६ और १५ वर्ण पर यति होती है। अन्तिम वर्ण गुरु होता है।

उदाहरण—

ऊंचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्दमूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते वे तीन बेर खाती हैं॥
भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
बिजन डुलाती ते वे बिजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती हैं॥

(२) घनाक्षरी—इसके दो भेद होते हैं—(१) रूप घनाक्षरी, (२) देव घनाक्षरी।

रूप घनाक्षरी—इसके चारो चरण ३२-३२ वर्ण के होते हैं और अंतिम दो वर्ण गुरु-लघु होते हैं। १६-१६ पर विराम होता है।

उदाहरण—

चार [illegible], चार [illegible], चोर हो सुजान तुम,
　　[illegible] [illegible], मन [illegible] तुम।
चोर हो [illegible], मन मुझे [illegible] मोर,
　　[illegible] [illegible], प्रेम सुधा बरसाओ तुम।
मुख दिखलाया [illegible] [illegible],
　　भाँति-भाँति के चतुर [illegible] दिखलाओ तुम।
छिपकर आओ मत [illegible] कदापि नहीं,
　　आओ या न आओ, फिर जाओ या न जाओ तुम॥

(३) देव घनाक्षरी—

इसके प्रत्येक चरण में ३३ वर्ण होते हैं। ८, ८, ८, ९ वर्णों के बाद यति; प्रत्येक चरण के अन्त में नगण (।।।) होना चाहिए।

उदाहरण—

झिल्ली झनकारैं पिक चातक पुकारैं बन,
　　मोरनि गुहारैं उठैं जुगनू चमकि-चमकि।
घोर घनकारैं भारे धुरवा धुरारे धाम,
　　धूमनि मचावैं नाचैं दामिनी दमकि-दमकि।
झूकनि बयार बहै लूकनि लगावै अंग,
　　हूकनि भभूकनि की उर में खमकि-खमकि।
कैसे कर राखौं प्राण प्यारे 'जसवन्त' बिन,
　　नान्हीं-नान्हीं बूँद झरै मेघवा झमकि-झमकि।

नवीन दृष्टिकोण और नूतन उपलब्धियाँ

(१) छायावाद से छन्द सम्बन्धी रूढ़ियों में परिवर्तन हुआ है। गीतों के युग में लयात्मकता की प्रधानता रही और संगीत तत्त्व की ओर लोगों का ध्यान रहा।

(२) मुक्त छन्द (Blank verse) में छन्दों का बंधन तो स्वीकार नहीं किया गया। किन्तु सुपाठ्यता का प्रयास अवश्य रहा।

(३) आजकल तुकान्त और अतुकान्त—दोनों प्रकार की कविताएँ लिखी जाती हैं। मुक्त छन्द में भाव और भाषा का सामंजस्य, आन्तरिक ऐक्य और [illegible] रहता है।

(४) कविवर पन्त ने लिखा है—'कविता हमारे प्राणों का संगीत है छन्द हृत्कंपन—छंद कविता का स्वभाव ही है।' संस्कृत वर्ण-वृत्त के प्रतीक; हिन्दी के मात्रिक-छन्द संगीत और सौन्दर्य के प्रतीक हैं।

(५) ह्रस्व और दीर्घ मात्राएं स्पष्ट रूप से उच्चरित हो संगीतात्मकता की रक्षा करती हैं। काव्य संगीत के मूलतन्तु स्वर हैं; मात्राओं से काव्य में अवस्था, प्रकृति, आकार-प्रसार, उठना-गिरना, कोमलता और कठोरता आदि का भाव-बोध कराया जाता है।

(६) करुणा के लिए हरिगीतिका, उदासीनता के लिए पीयूष वर्णन छन्द का प्रयोग होता है। रूपमाला, सखी, प्लवंगम आदि छन्दों को प्रयोग पन्त जी में अधिक हुआ है।

———

अध्याय ७

काव्य-दोष

दोष (क) उद्वेगजनको दोषः ।—(अग्नि पुराण)

—काव्यास्वाद में जो उद्वेग उत्पन्न करता हो, वह दोष है।

(ख) गुण विपर्ययात्मनो दोषः ।—(वामन)

—गुणों के विरोध में आने वाला दोष है।

(ग) 'मुख्यार्थ की प्रतीति में बाधक तत्त्व दोष है।'—(काव्य प्रदीप)

(घ) 'दोषास्तस्यापकर्षाः'—(साहित्य दर्पण)

शब्दार्थ द्वारा अपकर्ष हीन, कारक दोष हैं।

(ङ) 'मुख्यार्थ का जिससे अपकर्ष हो, वह दोष है (मम्मटाचार्य)

संक्षेप में जो काव्य को दूषित कर दे, उसके शब्द अथवा अर्थ में किसी प्रकार का विकार पैदा कर दे, वह दोष है।

भेद

काव्य-दोष तीन प्रकार के होते है—(क) शब्द या पद-दोष, (ख) अर्थ-दोष और (ग) रस-दोष।

(क) शब्द या पद-दोष—इसके अन्तर्गत मुख्य दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) श्रुति कटुत्व, (२) च्युत संस्कृति, (३) ग्राम्यत्व, (४) अश्लीलत्व, (५) क्लिष्टत्व, (६) अप्रतीतत्व, (७) अक्रमत्व, (८) न्यून पदत्व और (९) अधिक पदत्व।

(ख) अर्थ-दोष मुख्य दो हैं :—

(१०) दुष्क्रमत्व, (११) पुनरुक्ति।

(ग) रस-दोष का विवरण लक्षण-ग्रंथों से देखिए। इसके अन्तर्गत १३ दोष हैं।

शब्द या पद-दोष

(१) श्रुतिकटुत्व—शृङ्गार आदि कोमल रस विषयक रचनाओं में 'ट' वर्ग के प्रयोग अथवा कर्ण-कटु शब्दों से यह दोष होता है।

उदाहरण (१) उस वृक्ष का दैर्घ्य आश्चर्य में

(२) भर्त्सना से भीत हो वह बाल तब

(२) च्युतसंस्कृति—जब कोई शब्द व्याकरण के नि
प्रयुक्त होता है तब भाषा के संस्कार से च्युत होने (गिर जाने) 'च्युत संस्कृति' दोष के भीतर आ जाता है। इसे 'व्याकरण-विरुद्ध' दो॰ कहते हैं। यह कई प्रकार का होता है। यथा—लिंग-दोष, वचन-दोष, ... दोष, सन्धि दोष तथा प्रत्यय-दोष।

उदाहरण (१) गरम वचन सीता जब बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मति डोला॥

(२) सीता जू के रूप पर देवता कुरूप को हैं,
रूप ही के रूपक तो वारि-वारि डारिए।(—केशव)

'देवता' शब्द हिंदी में पुल्लिंग है, किन्तु संस्कृत में स्त्रीलिंग।

(३) ग्राम्यत्त्व—प्रादेशिक और गँवारू शब्द जो बोलचाल में प्रयुक्त होते हो तथा साहित्यिक भाषा में जिनका प्रयोग न होता हो। यथा—दुआर, सिदौसी, पुरनिया आदि।

उदाहरण—मूड़ पै मुकुट धरे सोहत गोपाल हैं। 'मूड' शब्द ग्राम्य है।

(४) अश्लीलत्त्व—यह अत्यन्त भयकर दोष है। 'फूहड़पन' किसी भी दशा में शोभनीय नही होता। यह लज्जा, घृणा और अमगल मूलक हुआ करता है। जैसे —

(१) मैया है अथवा तू मेरी दो थन वाली गैया। (लज्जा)

(२) उस राजा का हथियार देखकर शत्रु नारियाँ भयभीत हो गईं।
(लज्जा)

(३) यह पका हुआ चूत है। संस्कृत में आम अर्थ होता है। (लज्जा)

(४) क्या दुःख है क्यों मैला बैरा। (घृणा)

(५) मूँदी आँखें सखि, प्रियतम ने,
मैं रही साथ ले अपनी (अमगल मूलक)

(५) क्लिष्टत्त्व—अर्थ करने में जहाँ पहेली-सी सुलझानी पड़े। यथा—

(१) मंदिर-अरघ—अवधि प्रभु बदि गए हरि-अहार चलि जात (सूर)
मंदिर-अरघ (पाख=पन्द्रह दिन), हरि-अहार (सिंह का भोजन, माँस=महीना)

(२) कुंभजनाम-कुमारी-सहोदर आनन देखि लजात निहारे।
कुंभजनाम (समुद्र) की कुमारी (लक्ष्मी) का भाई (चन्द्रमा)

(३) लक्ष्मी जी की जन्म भूमि का पानकर्ता,
था निर्मित बन रहा शोभ में कल-कल हार में।

लक्ष्मी जी की जन्मभूमि (जलज) है, उसका पानकर्ता (अज) है।

(४) अप्रतीतत्व —जहाँ पारिभाषिक और लोक-व्यवहार तथा काव्य-भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग न किया जाय अथवा शास्त्र में प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग भाषा में प्रयुक्त काव्य में किया जाय। जैसे :—

(१) आशय मेरा करो नाश, हे हरि, गुणराई।
योग शास्त्र में 'वासना' अर्थ।

(२) पुत्र जन्म-उत्सव समय स्पर्श कीन्ह बहु गाय।
स्पर्श का अर्थ (दान) है।

(७) अक्रमत्व—जहाँ वाक्य में कोई शब्द अपने उपयुक्त स्थान पर प्रयुक्त नहीं होता है। यह दोष प्रायः उपसर्ग, अव्यय और विभक्ति-चिन्ह के प्रयोग में होता है। यथा—

विश्व मे लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।
इसमें 'मानवी' लीला के पहले रखना चाहिए।

विशेष—यह वाक्य-दोष है।

(८) न्यून पदत्व—जहाँ इष्ट अर्थ प्राप्त करने के लिए अपनी ओर से किसी शब्द को मिलाना पड़े। जैसे—

कृपावलोकनि होय तो सुरपति सों का काम। (आपकी ?)

(९) अधिक पदत्व—जहाँ वाक्य में अनावश्यक शब्दों का प्रयोग हो। जैसे, फिर बोले वे वाणी। (वाणी शब्द अनावश्यक है।)

(ख) अर्थ-दोष

(१०) दुष्क्रमत्व—जब लोक या शास्त्र-विरुद्ध कोई बात कही जाय। जैसे, (१) 'फूलहि फलहि न बेंत।'

यह प्रकृति-विरुद्ध है। (बेंत फूलता और फलता भी है।)

(२) मारुत-नंदन मारुत को, मन को, खगराज को, बेग लजायो।
वास्तव में खगराज, मारुत और मन का क्रम होना चाहिए।

(११) पुनरुक्ति—जहाँ इष्ट अर्थ की सिद्धि होने पर भी उसे र दोहराया जाय। जैसे—

इक तो मदन विशिख लगे, मुरछि परीं सुधि नाहिं।
दूजे बद बदरा भरी, घिरि घिरि विष बरसाहि॥ (बिहारी)

इसमें 'मुरछि परी' से ही 'सुधि नाहिं' का अर्थ प्रकट हो जाता है। :तः पुनरुक्ति-दोष है।

अध्याय ८

रीति-विचार

'अर्थ अभिव्यक्ति के लिए जिस शैली विशेष का उपयोग किया जाता है, उसे 'रीति' कहते हैं।' यह प्राचीन समालोचना शास्त्र की ऐसी कसौटी है, जिस पर अनेक शास्त्र जिन साहित्यिकताओं के लिये पूर्ण हुए हैं। यह ऐसी प्रेरक शक्ति है, जो साहित्यकार के व्यक्तित्व से [illegible] से ही कुछ बाह्य अंगों को निरूपित किया करती है। प्राच्य एवं पाश्चात्य समीक्षा पद्धतियों के बीच की यह एक ऐसी कड़ी है, जो एक दूसरे को मिलाती है। बिना इसके ज्ञान के रीति-कालीन हिन्दी धारा के अबाध प्रवाह को समझने में साहित्यिक अध्येताओं को कुछ कठिनाई का अनुभव होगा। अस्तु, आदि युग से रीतियों का सम्बन्ध जोड़ते हुए उनके ऐतिहासिक विकास पर ध्यान देना मात्र भी प्रमुख समस्या है।

साहित्य में कई प्रकार के सम्प्रदाय हैं—यथा रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, सम्प्रदाय आदि। इनमें रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों में दण्डी और वामन मुख्य हैं। वामन ने तो रीति को 'काव्य की आत्मा' माना है। इन सम्प्रदायों के ऊपर हिन्दी में जो भी बृहद ग्रंथ लिखे गये वे संस्कृत के अनुकरण मात्र ही रहे। हाँ, उनमें यत्किञ्चित मौलिकता पाई जाती है। आचार्य केशव अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुयायी थे। आगे चलकर डाक्टर श्यामसुन्दर दास के शब्दों में 'काव्य धारा का स्वच्छन्द प्रवाह रीति की नालियों में बहने लगा। महाकवि भूषण भी वीर रस-समन्वित रीति ग्रंथ ही लिख सके।' इस प्रकार हिन्दी में रीति ग्रन्थों की परम्परा के आदि आचार्य केशवदास ही हैं। बिहारी ने भी अपने अर्थ-प्रतिपादन के कौतूहल में 'घाट-बाट' देखने में जितना परिश्रम किया, उतना यदि वे हृदय की टोह में करते तो हिन्दी कविता उन्हें पाकर अधिक सौभाग्यशालिनी होती। रीतिकाल के घोड़े से आचार्यों में 'देव' की गणना की जाती है। रीति सम्बन्धी उनकी कुछ स्वतन्त्र उद्भावनाओं का उल्लेख 'मिश्र बन्धुओं' ने किया है। डाक्टर श्यामसुन्दर ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास' में लिखा है, 'पाण्डित्य के दृष्टिकोण से रीति काल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं। परन्तु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्चकोटि की काव्य प्रतिभा का मिश्रण करने और

आचार्य शब्दार्थ को काव्य का शरीर, अलङ्कार तथा रीति को काव्य की आत्मा मानते रहे। किन्तु ईसा के नवम शतक के उपरान्त इस मान्यता में भी परिवर्तन हुआ। किसी ने ध्वनि, किसी ने रस, किसी ने वक्रोक्ति और किसी ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को ही काव्य का आत्मा माना। भामह, दण्डी, रुद्रट और वामन भी रीति की परिपाटी पर डटे रहे। काव्यालङ्कार के प्रणेता आचार्य भामह रीति के अधिकारी समर्थक नहीं थे। उनके मत से अपनी सीमा का अतिक्रमण करने वाली प्रत्येक रीति अग्राह्यनीय है। हाँ, उसमें वक्रोक्ति का भी समावेश होना चाहिए। भामह रीति का विचार गौण तथा स्वरूप का विचार प्रधान मानते थे। आचार्य भामह के विचारों से प्रभावित होकर आचार्य दण्डी ने इस दिशा में उल्लेखनीय परिवर्तन किया है। वे काव्य में अलङ्कार के पक्षपाती थे। उनकी दृष्टि में दस गुणों से युक्त वैदर्भी सत्काव्य का प्रेरक तत्त्व है। रीति के विकास में आचार्य वामन पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के विचारों को जोड़ने के लिए सुन्दर कड़ी हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह सद्घोषणा की थी "रीतिरात्मा काव्यस्य" —वामन १।२।६ अर्थात् 'रीति ही काव्य की आत्मा है'। रीति का लक्षण है —'विशिष्ट पद रचना रीतिः'। वामन ने गौडी, वैदर्भी के अतिरिक्त पाञ्चाली रीति का भी विवेचन किया है, किन्तु आचार्य रुद्रट ने इन तीनों के अतिरिक्त 'लाटीया' रीति की भी अभिनव सृष्टि की है। रसौचित्य के अनुसार रुद्रट ने ही सर्वप्रथम रीतियों का विवेचन किया जिसे अनन्तरकालीन आचार्यों ने ग्रहण किया। आचार्य रुद्रट ने लिखा है :—

> वैदर्भी—पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
> लाटीया—गौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्॥

रस का वर्णों पर जो प्रभाव पड़ता है उसे वृत्ति कहते हैं। ये चार हैं -

(१) कौशिकी (शृंगार रस) (२) आरभटी (रौद्र, वीर, अद्भुत तथा [illegible]) (३) सात्वती (४) भारती।

अध्याय ६

वृत्ति-विचार

नाट्यशास्त्र के वे प्राचीन 'तत्त्व' जो हमारे साहित्यशास्त्र की अपनी निधि हैं, जिन पर पाश्चात्यों तक [illegible] होता रहा है, समय और प्रचार के [illegible] 'शब्द' मात्र के रूप में सुरक्षित हैं। वृत्तियों एवं रीतियों के समुचित ज्ञान के बिना काव्य और नाटक के कई तत्त्व समझे नहीं जा सकते, उनकी मूलभूमि पर पहुँचा नहीं जा सकता। अतः ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि वृत्ति, रीति और रस में सामञ्जस्य स्थापित किया जाए। यहाँ कुछ [illegible] पाश्चात्य-कसौटी [illegible] समालोचक सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय काव्य तथा नाटक के तत्त्वों को भी समझने का प्रयास करते हैं, जो भारतीय दृष्टिकोण न होकर अनुचित [illegible] की अभिव्यक्ति मात्र रह जाता है।

वृत्तियों का रस और रीति से सम्बन्ध जोड़ने के पूर्व यह आवश्यक है कि वृत्ति के 'परिभाषित' पद पर विचार किया जाय। 'वृत्ति' शब्द वृत्-वर्तने धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार; यह व्यापार जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो। अभिनव गुप्त ने 'वृत्ति' को 'साधक व्यापार' कहा है। अभिनव भारती में 'वृत्ति' को 'काव्य तथा नाट्य की माता' कहा गया है।[१] किन्तु काव्य तक ही इसका क्षेत्र परिमित नहीं है। 'समस्त संसार ही वृत्तियों से व्याप्त है।'× आचार्य भरत मुनि 'रसोचित चेष्टा को ही वृत्ति स्वीकार करते हैं'। 'तथा वृत्तयः काव्य मातरः इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एवं चेष्टा विशेषोवृत्तिः।' लोचन पृष्ठ २३२, ३ उद्योत। आनन्द वर्धनाचार्य ने कहा है—'व्यवहारोहि वृत्तिरित्युच्यते' व्यवहार ही अर्थात् ढङ्ग ही वृत्ति कहलाती है। इसके अर्थ-

---

१ तस्माद् व्यापारः पुमर्थ साधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतो वृत्तिः काव्यस्य मातृका इति। वृत्तयो नाट्य मातरः।

—अभिनव भारती।

× आस्तां काव्यार्थ, सर्वोहि संसारः वृत्तिचतुष्केन व्याप्तः।

—अभिनव भारती

ार, प्रकृति, व्यवहार आदि भी होते हैं। जिस ... तथा
ती की स्वभावज वृत्तियाँ हुआ करती हैं, उसी प्रकार ... वृत्ति
है।

इस प्रकार वृत्ति के पारिभाषिक पक्ष पर विचार करने से ...
ा है कि इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तथा रसानुभूति में इसका .
न्त आवश्यक है।

वृत्ति और रस—वृत्तियों के दर्शकों तथा पाठकों के हृदय में रस तथा
का संचार होता है। इस सम्बन्ध में भरत मुनि का प्रयास उल्लेखनीय है।
ने इनका सम्बन्ध भिन्न-भिन्न रसों से जोड़ा है, क्योंकि अभिनय तभी सफल
ा है जब उससे तद्-तद् विषयक रस की भी सृष्टि होती हो। कैशिकी वृत्ति
ृङ्गार तथा हास्य, सात्वती में वीर, रौद्र, अद्भुत; आरभटी में भयानक,
त्स, रौद्र; और भारती में करुण तथा अद्भुत रसों का सन्निवेश होता है।
नाट्यकारों ने कुछ परिवर्तन के साथ वृत्ति और रस में सामञ्जस्य स्थापित
ा है। यथा—

> 'शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्याद् कैशिकीतिसा।
> सात्वती नाम साज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया ॥६५॥
> भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।
> भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्भुत संश्रया ॥६६॥
>
> —नाट्य शास्त्र २२

उपर्युक्त विवेचन में सात्वती में रौद्र, अद्भुत; आरभटी में रौद्र तथा
ारती में अद्भुत रसों की पुनरावृत्ति हो गई है। यहाँ इसका तात्पर्य एक के
धान तथा दूसरे के उपप्रधान होने से है। रुद्रट ने कहा है—वृत्तियों का प्रयोग
ौचित्य के साथ करना चाहिए।

वृत्ति और रीति—अलङ्कार शास्त्र में वृत्ति के अन्तर्गत काव्य-वृत्ति भी
ाती है। अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यञ्जना के लिए भी काव्य-वृत्ति का
योग होता है। इन्हें 'शब्द-वृत्तियाँ' कहते हैं। किन्तु कालान्तर में नाट्य वृत्ति
ा छोड़ कर शेष सब वृत्तियाँ भुला दी गईं। शब्द-वृत्ति में उपनागरिका, परुषा
ौर कोमला मुख्य रूप से आती हैं। किन्तु वामन में इनका अन्तर्भाव हो गया
है।[१] मम्मटाचार्य ने वृत्तियों को रीतियों के साथ अभिन्न मान कर उन दोनों

---

[१] एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ी पाञ्चाल्याख्या रीतियो
मताः। —काव्य प्रकाश ९।४

अध्याय ६

वृत्ति-विचार

शताब्दियों से ये भारतीय 'भारत' को हमारे साहित्य-शास्त्र की अमूल्य निधि है, जिस पर शताब्दियों तक विवेचन-अनुशीलन होता रहा है, समय और प्रसार की दृष्टि से 'रस' शब्द के रूप में गृहीत है। वृत्तियों एवं रीतियों के समुचित ज्ञान के बिना काव्य और नाटक के सौन्दर्य तत्त्व समझे नहीं जा सकते; उनकी अनुभूति तक पहुँचा नहीं जा सकता। अतः ऐसी परिस्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि वृत्ति, रीति और रस में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय। आगे इस प्रकरण में काव्य-मनीषी पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों के आलोक में भारतीय काव्य तथा नाटक के तत्त्वों को भी परखने का प्रयास करते हैं, जो व्यापक दृष्टिकोण न होकर समुचित मुद्राओं की अभिव्यक्ति मात्र रह जाता है।

वृत्तियों का रस और रीति से सम्बन्ध जोड़ने से पूर्व यह आवश्यक है कि वृत्ति के 'पारिभाषिक' पक्ष पर विचार किया जाय। 'वृत्ति' शब्द वृत्-वर्तने धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार; वह व्यापार जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो। अभिनव गुप्त ने 'वृत्ति' को 'साधक व्यापार' कहा है। अभिनव भारती में 'वृत्ति' को 'काव्य तथा नाट्य की माता' कहा गया है।[१] किन्तु काव्य तक ही इसका क्षेत्र परिमित नहीं है। 'समस्त संसार ही वृत्तियों से व्याप्त है।'× आचार्य भरत मुनि 'रसोचित चेष्टा को ही वृत्ति स्वीकार करते हैं'। 'तथा वृत्तयः काव्य मातरः इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एवं चेष्टा विशेषोवृत्तिः।' लोचन पृष्ठ २३२, ३ उद्योत। आनन्द वर्धनाचार्य ने कहा है—'व्यवहारोहि वृत्तिरित्युच्यते' व्यवहार ही अर्थात् ढङ्ग ही वृत्ति कहलाती है। इसके अर्थ-

---

१ तस्माद् व्यापारः पुमर्थ साधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतो वृत्तिः काव्यस्य मातृका इति। वृत्तयो नाट्य मातरः।

—अभिनव भारती।

× आस्तां वाच्यार्थं, सर्वोहि संसारः वृत्तिचतुष्केन व्याप्तः।

—अभिनव भारती

[illegible] है। [illegible]
[illegible]
[illegible] है।

[illegible]
[illegible]
[illegible] है।

वृत्ति और रस—वृत्तियों के प्रयोग से नाटकों में दृश्य से रस [illegible] होता है। इस सम्बन्ध में भरत वृत्ति का प्रयोग [illegible] है। [illegible] रसों के अनुसार भिन्न भिन्न [illegible] है, [illegible] होता है [illegible] जिस रस की पुष्टि होती हो। कैशिकी वृत्ति से शृङ्गार तथा हास्य, सात्वती से वीर, रौद्र, अद्भुत, आरभटी से भयानक, बीभत्स, रौद्र, और भारती से करुण तथा अद्भुत रसों का अभिव्यञ्जन होता है। भरत नाट्यशास्त्र में इस विवेचन के द्वारा वृत्ति और रस में सामञ्जस्य स्थापित किया है। यथा—

> शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकी द्विजा।
> सात्वती नाम विज्ञेया, वीराद्भुतशमाश्रया ॥६४॥
> भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।
> भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुत संश्रया ॥६५॥
>
> — नाट्य शास्त्र २२

उपर्युक्त विवेचन में सात्वती में रौद्र, अद्भुत, आरभटी में रौद्र तथा भारती में अद्भुत रसों की पुनरावृत्ति हो गई है। यहाँ इसका तात्पर्य एक के प्रधान तथा दूसरे के उपप्रधान होने से है। रुद्रट ने कहा है—वृत्तियों का प्रयोग औचित्य के साथ करना चाहिए।

वृत्ति और रीति—अलङ्कार शास्त्र में वृत्ति के अन्तर्गत काव्य वृत्ति भी आती है। अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यञ्जना के लिए भी काव्य-वृत्ति का प्रयोग होता है। इन्हें 'शब्द-वृत्तियाँ' कहते हैं। किन्तु कालान्तर में नाट्य वृत्ति का छोड़ कर शेष सब वृत्तियाँ भुला दी गई। शब्द-वृत्ति में उपनागरिका, परुषा और कोमला मुख्य रूप से आती है। किन्तु वामन में इनका अन्तर्भाव हो गया है।[१] मम्मटाचार्य ने वृत्तियों को रीतियों के साथ अभिन्न मान कर उन दोनों

---

[१] एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी गौडी पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः।

—काव्य प्रकाश ९ । ४

अध्याय ९

वृत्ति-विचार

समीक्षा के वे प्राचीन 'मान' जो हमारे साहित्य-शास्त्र की स्थायी निधि हैं, जिन पर शताब्दियों तक विवेचन-अनुशीलन होता रहा है, समय और अनाव को परिसीमित करने के 'रूढ़' नाम के रूप में गृहीत हैं। वृत्तियों एवं रीतियों के अनुचित ज्ञान के बिना नाटक और नाट्य के प्रेरक तत्त्व समझे नहीं जा सकते, उनको भावभूमि पर उतारा नहीं जा सकता। अतः ऐसी परिस्थिति में यह परम आवश्यक है कि वृत्ति, रीति और रस में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय। आज दिन कुछ नवोदित काव्य-मनीषी पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों के 'मानों' पर भारतीय काव्य तथा नाटक के तत्त्वों को भी कसने का प्रयास करते हैं, जो व्यापक दृष्टिकोण न होकर संकुचित कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति मात्र रह जाता है।

वृत्तियों का रस और रीति से सम्बन्ध जोड़ने के पूर्व यह आवश्यक है कि वृत्ति के 'परिभाषिक' पक्ष पर विचार किया जाय। 'वृत्ति' शब्द वृत्-वर्तने धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार; वह व्यापार जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो। अभिनव गुप्त ने 'वृत्ति' को 'साधक व्यापार' कहा है। अभिनव भारती में 'वृत्ति' को 'काव्य तथा नाट्य की माता' कहा गया है।[१] किन्तु काव्य तक ही इसका क्षेत्र परिमित नहीं है। 'समस्त संसार ही वृत्तियों से व्याप्त है।'× आचार्य भरत मुनि 'रसोचित चेष्टा को ही वृत्ति स्वीकार करते हैं'। 'तथा वृत्तयः काव्य मातरः इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एवं चेष्टा विशेषोवृत्तिः।' लोचन पृष्ठ २३२, ३ उद्योत। आनन्द वर्धनाचार्य ने कहा है—'व्यवहारोहि वृत्तिरित्युच्यते' व्यवहार ही अर्थात् ढङ्ग ही वृत्ति कहलाती है। इसके अर्थ-

१ तस्माद् व्यापारः पुमर्थ साधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्तते इत्यतो वृत्तिः काव्यस्य मातृका इति। वृत्तयो नाट्य मातरः।

× आस्तां वाक्यार्थं, सर्वोहि संसारः वृत्तिचतुष्केन व्याप्तः

भी आती है। हाँ, इस साम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्यों [illegible]
माना हो।

इन वृत्तियों का हिन्दी साहित्य में कहाँ तक विचार [illegible] है, इसे भी देख लेना अत्यन्त आवश्यक है। सैद्धान्तिक विवेचन के [illegible] यत्किंचित प्रकाश अवश्य डाला गया है, पर लक्ष्य रूप में नहीं। [illegible] आचार्य गद्य मे टीकायें और वृत्तियाँ भी लिखते थे। किन्तु हिन्दी में [illegible] भाषा का प्रयोग अधिक हुआ है। इससे यह पता चलता है कि वृत्तियो को [illegible] का पर्याय मान लिया गया है।

इस प्रकार वृत्ति, रस और रीति के तत्त्वो का निरूपण करते हुए उनके सम्बन्धो पर प्रकाश डाला गया है। वास्तव में वृत्तियो के समुचित अध्ययन से हमारे आलोचनात्मक दृष्टि-पथ का विस्तार होता है। यों तो वृत्तियो का उपयोग हमारे नित्य-प्रति के साहित्यिक जीवन मे होता रहता है। किन्तु उसके सम्यक् ज्ञान से साहित्य में शिष्टता आती है, भाव-गाम्भीर्य की टूटती हुई शृङ्खला पुनः जुड़ने लगती है। वृत्तियो का रीति और रस में अन्तर्भुक्त हो जाना वाङ्मय को एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसकी उत्पत्ति तथा वर्गीकरण का ही आधार साहित्य-विकास की दिशा मे एक सशक्त प्रयोग है, जिससे हम वञ्चित नहीं रह सकते। इसकी उत्पत्ति से हमें शैव और वैष्णव विचार-धाराओं के क्रमिक विकास का तारतम्य मालूम होता है। जिस पर फिर कभी विचार किया जायगा। 'वृत्तियाँ' नाटकीय अङ्ग हैं, इनसे काव्य को भी रमणीयता प्राप्त होती है।

कई साम्प्रदायिक आचार्यों ने विभिन्न रूपो को काव्यात्मा मान कर अपने-अपने सम्प्रदायो का विकास किया गया है। यथा—रस, अलङ्कार, रीति वृत्ति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि। किन्तु काव्य न तो अन्त तक रसमय ही होता है, न ध्वनिमय, न अलङ्कारमय, न वक्रोक्तिमय ही। ये सब काव्य को सरस, सुन्दर एवं रमणीय बनाने के साधन विशेष हैं। वास्तव में औचित्य सम्प्रदाय ही सर्वमान्य है जिसमें सभी तत्वों का यथा स्थान यथोचित प्रयोग होना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही रस सिद्ध काव्य का प्राण माना है। 'औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।' ऐसी स्थिति में यदि वृत्ति विचार रसानुभूति के रूप में हो तो उससे औचित्य की चरम सीमा तक पहुँचा जा सकता है, जो सत्काव्य का एक मात्र इष्ट है। अतः काव्य में सभी अङ्गों और तत्वों का उचित सन्निवेश होना आवश्यक है।

क्योंकि आचार्य कुन्तक ने ही 'स्वभावोक्ति' को अलंकार [illegible] नहीं माना है।[1] किन्तु उसकी सत्ता उन्होंने भी स्वीकार की है। कुन्तक [illegible] की परम्परा में आते हैं। भामह स्वभावोक्ति का एक प्रकार [illegible] इसे काव्य का अलंकार न मानकर अलंकार्य मानते हैं। [illegible] साहित्य की दृष्टि से उसका महत्त्व स्वीकार करते हैं; किन्तु उनकी [illegible] वक्रता पर है।[2] कुन्तक की इस मान्यता पर खण्डन महिमभट्ट ने अपने 'विवेक' में किया है और उन्होंने 'स्वभावोक्ति' को अलंकार माना है। [illegible] विचारों का समर्थन हेमचन्द्र और माणिक्यचन्द्र ने किया है। 'वस्तु-निर्देश' में किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) निर्विकल्पक, (२) सविकल्पक। उसका निर्देश भी दो प्रकार का होता है—(१) सामान्यजन-द्वारा, (२) प्रतिभा-सम्पन्न कवि द्वारा। किसी वस्तु का स्वभाव दो प्रकार का होता है—(१) सामान्य स्वभाव, (२) विशिष्ट स्वभाव। वस्तु का विशिष्ट स्वभाव सिद्ध न होकर साध्यमान होता है—यही 'स्वभावोक्ति' अलंकार का विषय है।[3]

आचार्य रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में अर्थालंकारों का वर्गीकरण (१) औपम्य, (२) वास्तव, (३) अतिशय और (४) श्लेष के रूप में किया है तथा उन्होंने 'वास्तव' के अन्तर्गत 'जाति' (स्वभावोक्ति) अलंकार का उल्लेख किया है। 'जहाँ किसी अवस्था, स्वभावादि के अनुसार ही उसका वर्णन किया जाय वहाँ 'स्वभावोक्ति' अलंकार होता है। आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में लिखा है, 'स्वभावोक्ति उस अलंकार को कहते हैं जिसमें बच्चों आदि की आत्म-

---

१ स्वभाव व्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मात् निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥ व० जी० १।१२

२. उदारस्वपरिस्पन्द सुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्र शब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥ व० जी० ३।१

३. उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमस्य सामान्य यद्विकल्पैकगोचरः ॥
स एव सर्व शब्दानां विषय. परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयन्ते श्यामलं बोधयन्त्यलम् ॥
विशिष्टमस्य यद्रूप तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कवि गिरां गोचर. प्रतिभाभुवाम् ॥
—व्यक्ति विवेक २।११४-११६

गया। उद्भट ने स्वभावोक्ति के क्षेत्र को बहुत
किसी क्रिया में प्रवृत्त होने वाले मृग-शावक आदि का
मान लिया। प्रतिहारेन्दुराज ने निश्चय ही उसके
किया और भोजराज ने उसकी पूर्ण व्यापक प्रतिष्ठा
के अनुयायी हैं; किन्तु उनमे नवीन दिशा की ओर सकेत
वक्रोक्ति के भीतर ही रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वी आदि रस
परिकल्पना की है। भोजराज ने इन अलकारो को वक्रोक्ति के क्षेत्र
'रसोक्ति' के अन्तर्गत कर दिया है। इस प्रकार आचार्य दण्डी का
वाङ्मय विभाजन भोजराज मे 'त्रिविध' रूप धारण कर लेता है।
मे हम स्वभावोक्ति का विस्तृत विवरण नही पाते। उन्होने उसे
कहकर छोड दिया है। भोजराज ने 'भिन्न-भिन्न अवस्थाओं
स्वभाव मे ही उत्पन्न होते है, उन्हे ही 'जाति' कहा है।[१]
काव्य मे भी स्वभाव की योजना करनी पड़ी, किन्तु वहाँ पर वह
अन्तर्भुक्त है। उक्ति के रूप में नही, व्यक्ति के रूप मे ही उस पर विचार किया
जा सका है।

हिन्दी को साहित्य-शास्त्र सीधे सस्कृत से रिक्थ मे मिला है। ऐसी स्थिति मे वक्रोक्ति के अतिरिक्त भी स्वभावोक्ति का जो वाङ्मय है—उस ओर भी साहित्य-शास्त्रियो का ध्यान जाना आवश्यक है। तभी निर्माता और निर्मित; अलकृति और अलकार्य का अन्तर स्पष्ट हो सकता है। निष्कर्ष यह कि 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है वस्तु-निर्देश मात्र नहीं। अलकार का तात्त्विक सम्बन्ध मात्र वर्णन-प्रणाली से नही है। वाच्य से व्यग्य की ओर जाने वाली हिन्दी-चिन्ता-धारा मे इसका विशेष महत्त्व है।

---

[१] ...षु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
...स्वेभ्यो निसर्गेभ्यः तानिजातिं प्रचक्षते॥
स० कं०, ३—४१८

त क्रिया तथा रूपादि का वर्णन किया जाय ।'[1] आचार्यों ने वक्रोक्ति के स्वभाव की समीक्षा के लिए उसका 'स्वभावोक्ति के साथ सम्बन्ध-निर्धारण आवश्यक माना है । वाणभट्ट ने स्वभावोक्ति को 'जाति' कहा है । वह (जाति) ग्राम्य, साधारण, बासी या फीकी न हो ।[2] इस प्रकार बाण भट्ट ने लौकिक तथा शास्त्रीय—दोनों प्रकार के वर्णनों से 'जाति' को भिन्न कर दिया । आचार्य भामह ने 'स्वभावोक्ति' को नित्य प्रति की बातचीत से पृथक माना है । वे लोक-वार्ता या शास्त्र-वार्ता को काव्य नहीं मानते ।[3]

भामह ने 'स्वभावोक्ति' अलंकार की सत्ता मानी है । किन्तु उसमे चमत्कार-जन्य गुण होने चाहिये ।[4] आचार्य दण्डी ने 'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वं-क्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' के अनुसार समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति की परिधि में माना है । उनके अनुसार 'अलंकार पदार्थों के नाना अवस्थाओं में विद्यमान साक्षात् रूप में प्रकट करने वाली 'स्वभावोक्ति' है ।[5] दण्डी ने स्वभा-वोक्ति का दूसरा नाम 'जाति' माना है और उसे 'आद्या अलंकृति' (प्रथम अलंकार, की उपाधि से विभूषित किया है । स्वभावोक्ति से ही वक्रोति के क्षेत्र का प्रारम्भ मानकर उसका पर्यवसान उन्होंने काव्य मे कर दिया है । भामह की 'वार्ता' दण्डी मे है । किन्तु वे शास्त्र के समान ही उसका काव्य मे भी अस्तित्व मानते हैं ।

खेद है, हिन्दी मे 'स्वभावोक्ति' के जाति-रूप पर तो विद्वानो का ध्यान गया भी है; किन्तु उसके गुण, क्रिया और द्रव्य रूप पर पर्याप्त प्रकाश नही डाला

---

१. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया रूपवर्णनम् ।
—का० प्र० १०।१६८।४१२

२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषो क्लिष्ट स्फुटोरसः ।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥—बाणभट्ट

३. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं ? वार्तामेनां प्रचक्षते ॥
—भामह २।८

४. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥
भामह, २।९३-

[illegible] आद्यादि विवृण्वती ।
[illegible] ॥

आत्मा की एक ऐसी शक्ति है जिसके सहारे मन में आये [illegible] 'मनुष्य के अभिव्यञ्जन [illegible] किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर मानो सौंदर्य [illegible] ग्रहण करता है—[illegible] विशिष्ट रूप का ही [illegible] अभिव्यक्ति हुआ है।' [illegible] आते ही उसका [illegible] साक्षात्कार होता है, वह अभिव्यक्ति का मार्ग ढूं- सौन्दर्य की भावना से चित्त में स्वतः आनन्द की धारा प्रवाहित होने [illegible] जिसके परिणाम से हमारे वे अन्तर्हित [illegible] भौतिक रूपों—शब्द, स्वर, रेखा आदि में प्रकट हो जाते हैं। अभिव्यञ्जना का बाह्योद्घाटन एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का ही परिणाम है, उसका भौतिक रूप [illegible] हुआ करता है। आत्माभिव्यञ्जन एक मात्र भौतिक या नैतिक है। उसका सम्बन्ध कलात्मक अभिव्यञ्जना से नहीं होता। कला तो वास्तविक रूप [illegible] है।

आनन्द भी कला के क्षेत्र से बाहर है। किन्तु न तो वह अनुभूति, या मूर्त विचार और न [illegible] का महत्व है किन्तु पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में उसे 'अनुभूति' का चिन्तन, या 'बौद्धिक प्रतिभान' ही कहा जा सकता है। आत्मिक व्यापार की क्रियाओं का उल्लेख कर क्रोचे ने काव्य को 'सत्य शिव, सुन्दरम्' के क्षेत्र से भी बाहर कर दिया है। वह 'सत्य', शिव' को व्यवहार जगत् की वस्तु मानता है। कला का मूल्य यदि 'सौन्दर्य' में है तो वह भी समीचीन नहीं क्योंकि सुन्दर और असुन्दर का विवेचन नहीं हो सकता। अतः कला का मूल्य कला में ही है।' (Art for Arts'sake)

अभिव्यञ्जनावाद की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि समझने के लिए उपदेशवाद (Didacticism) को समझ लेना आवश्यक होगा। उपदेशवादी प्रवृत्तियों के पलायन से ही अभिव्यञ्जनावादियों का उत्थान हुआ है। किन्तु उपदेशवाद समाज की एक ऐसी ठोस मान्यता है, जो समाज और जीवन दोनों के सदैव निकट रहेगा। उपदेशवादी कलाकारों ने काव्य के रूप पक्ष की ओर नहीं, उसके उद्देश्य की ओर ही विशेष ध्यान दिया है। रस्किन इस सिद्धान्त का अनुयायी था "Ruskin said bluntly that the arts, must be didactic to the people, as thier Chief end" होरेस ने कलाकार को शिक्षक, अनुरञ्जक, या दोनों कहा है—, Horace asserts that the poet is to teach. to please, or to do both, दाँते ने नीति शास्त्र या नैतिक क्रिया-कलापों पर ही अपनी सुखात्मक अनुभूतियों को आधारित किया है। Dante says that the genus of philosophy to which his comedy is to be assigned is moral activity or ethies." शैली जैसे कलाकारों ने भी 'उपदेशवाद' को अपने जीवन का महामन्त्र माना

अध्याय ११

अभिव्यञ्जनावाद

'क्रोचे' का 'अभिव्यञ्जनावाद' यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र का एक सामान्य सम्प्रदाय है। सत्रहवीं शताब्दी में पुरानी ग्रीक-कला का नया विश्लेषक आचार्य लेसिङ्ग 'चरम सौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यञ्जना को ही काव्य मानता है।' काल-रिज ने 'सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करती है, उसे ही काव्य मानते हैं।' कुछ लोग इस अभिव्यञ्जनावाद को एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' मानते हैं। किन्तु यह कुन्तक के वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है। वक्रता वहीं तक अपेक्षित है, जहाँ तक उसका सम्बन्ध हृदय की किसी अनुभूति से हो। चमत्कारवादी कलाकारों ने व्यञ्जना-प्रणाली में सजीवता का ही सब कुछ मान लिया था और उन्होंने 'कलार्थ कला' की सृष्टि की थी। स्वानुभूति की प्रावी पर ही कला का अभ्युदय होता है। सौन्दर्यानुभूति की परम्परागत रूढि शैली ही कला है, ऐसा पाश्चात्य समीक्षक मानते हैं। किन्तु भावोद्रेक और रसोद्रेक जो उसकी स्वाभाविक क्रियाएं हैं, उसे वे अस्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध इटेलियन काव्य-मीमासक क्रोचे ने सर्व प्रथम इसके शास्त्रीय पक्ष की विवेचना की। उसने अनुभूति को ही अभिव्यञ्जना माना; शब्द और रेखाओं को उसका स्थूल उपकरण मात्र।

मानसिक व्यापार को सूक्ष्मतम क्रियाओ पर ही यह 'वाद' आधारित है। क्रोचे काव्य तथा कलाओ को एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक व्यापार का परिणाम मानता है। उसके मत मे दृश्य जगत् की कोई सत्ता नही। मन की ही एक प्रक्रिया दृश्य जगत् को जन्म देती है। उसकी एक दूसरी प्रक्रिया कलात्मक आकलन करती है। जगत् उसी मानसिक वृत्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है। अभिव्यञ्जना मानव मन की अन्तर्निहित प्रवृत्तियो का प्रकाशन है, जिसका क्षेत्र मनुष्य का अन्तर्गत है, वाह्य जगत् के छाया-चित्र उसी के प्रतिबिम्ब हैं। सौन्दर्य-ग्रहण की अभिव्यक्ति में कुछ लोग उसकी सत्ता द्रव्य मे, कुछ रूप मे और कुछ दोनों में मानते हैं। किन्तु क्रोचे एक मात्र रूप (Form) को ही सौन्दर्य का आधार स्वीकार करता है। वह अभिव्यक्ति को ही सब कुछ मानता है क्योंकि यह स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) पर ही आधारित है न कि भावपरक एवं आनन्दात्मक सीमाओं मे आवद्ध। कला तो श्रेय और प्रेय दोनों से ऊपर है। वह तो मानव

अध्याय ११

अभिव्यञ्जनावाद

'क्रोचे' का 'अभिव्यञ्जनावाद' यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र का एक सामान्य सम्प्रदाय है। सत्रहवीं शताब्दी में पुरानी ग्रीक-कला का नया विश्लेषक आचार्य लेसिङ्ग 'आत्म सौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यञ्जना को ही काव्य मानता है।' कालरिज ने 'सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करती है, उसे ही काव्य मानते हैं।' कुछ लोग इस अभिव्यञ्जनावाद को एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' मानते हैं। किन्तु यह कुन्तक के वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है। वक्रता वहीं तक अपेक्षित है, जहाँ तक उसका सम्बन्ध हृदय की किसी अनुभूति से हो। चमत्कारवादी कलाकारों ने व्यञ्जना-प्रणाली में सजीवता का ही सब कुछ मान लिया था और उन्होंने 'कलार्थ कला' की सृष्टि की थी। स्वानुभूति की प्रावी पर ही कला का अभ्युदय होता है। सौन्दर्यानुभूति की परम्परागत रूढ़ि शैली ही कला है, ऐसा पाश्चात्य समीक्षक मानते हैं। किन्तु भावोद्रेक और रसोद्रेक जो उसकी स्वाभाविक क्रियाएं हैं, उसे वे अस्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध इटेलियन काव्य-मीमांसक क्रोचे ने सर्व प्रथम इसके शास्त्रीय पक्ष की विवेचना की। उसने अनुभूति को ही अभिव्यञ्जना माना; शब्द और रेखाओं को उसका स्थूल उपकरण मात्र।

मानसिक व्यापार की सूक्ष्मतम क्रियाओं पर ही यह 'वाद' आधारित है। क्रोचे काव्य तथा कलाओं को एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक व्यापार का परिणाम मानता है। उसके मत में दृश्य जगत् की कोई सत्ता नहीं। मन की ही एक प्रक्रिया दृश्य जगत् को जन्म देती है। उसकी एक दूसरी प्रक्रिया कलात्मक धारणा करती है। जगत् उसी मानसिक वृत्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है। अभिव्यञ्जना मानव मन की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का प्रकाशन है, जिसका क्षेत्र मनुष्य का अन्तर्गत है, बाह्य जगत् के छाया-चित्र उसी के प्रतिबिम्ब हैं। सौन्दर्य-ग्रहण की अभिव्यक्ति में कुछ लोग उसकी सत्ता द्रव्य में, कुछ रूप में और कुछ दोनों में मानते हैं। किन्तु क्रोचे एक मात्र रूप (Form) को ही सौन्दर्य का आधार स्वीकार करता है। वह अभिव्यक्ति को ही सब कुछ मानता है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) पर ही आधारित है न कि भावात्मक एवं धारणात्मक मीमांसा में शब्द। क्या तो थेय और प्रेय दोनों से ऊपर है। वह ना मानव

मन की एक ऐसी शक्ति है जिसके संस्कार सब में पाये ज
प्रातिभ ज्ञान किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर अपना कोई-न-न ॰
करता है—इस विशिष्ट रूप का ही नाम अभिव्यञ्जना है।' वस्तु के
आते ही उसका अन्तःसंस्कार होता है, वह अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढता .
सौन्दर्य की भावना से चित्त में स्वतः आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है
जिसके अतिरेक से हमारे वे अन्तर्द्वन्द्व स्थूल भौतिक रूपों—शब्द, स्वर, गति,
रेखा आदि में प्रकट हो जाते हैं। अभिव्यञ्जना का शास्त्रीय रूप मनोवैज्ञानिक
प्रक्रिया का ही परिणाम है, उसका लौकिक रूप कल-शून्य हुआ करता है।
भावाभिव्यञ्जन एक मात्र भौतिक या लौकिक है। उसका सम्बन्ध कलात्मक
अभिव्यञ्जना से नहीं होता। कला का वास्तविक रूप आध्यात्ममूलक है।

काव्य भी कला के क्षेत्र में आता है। किन्तु न तो वह अनुभूति, या
मूर्त विधान और न दोनों का संयोग है किन्तु प० बलदेव उपाध्याय के शब्दों
में उसे 'अनुभूति' का चिन्तन, या 'गीतिमय प्रतिमान' ही कहा जा सकता है।
मानसिक व्यापार की क्रियाओं का उल्लेख कर क्रोचे ने काव्य को 'सत्य शिव,
सुन्दरम्' के क्षेत्र से भी बाहर कर दिया है। वह 'सत्य', शिव' को व्यवहार
जगत् की वस्तु मानता है। कला का मूल्य यदि 'सौन्दर्य' में है तो वह भी
समीचीन नहीं क्योंकि सुन्दर और असुन्दर का विवेचन नहीं हो सकता। अतः
कला का मूल्य कला में ही है।' (Art for Arts'sake)

अभिव्यञ्जनावाद की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि समझने के लिए उपदेशवाद
(Didacticism) को समझ लेना आवश्यक होगा। उपदेशवादी प्रवृत्तियों
के पलायन से ही अभिव्यञ्जनावादियों का उत्थान हुआ है। किन्तु उपदेशवाद
समाज की एक ऐसी ठोस मान्यता है, जो समाज और जीवन दोनों के सदैव
निकट रहेगा। उपदेशवादी कलाकारों ने काव्य के रूप पक्ष को ओर नहीं, उसके
उद्देश्य की ओर ही विशेष ध्यान दिया है। रस्किन इस सिद्धान्त का अनुयायी
था "Ruskin said bluntly that the arts, must be didactic
to the people, as thier Chief end" होरेस ने कलाकार को शिक्षक,
अनुरञ्जक, या दोनों कहा है—, Horace asserts that the poet is
...se, or to do both, दाँते ने नीति शास्त्र या नैतिक
...नी सुखात्मक अनुभूतियों को आधारित किया है।
...he genus of philosophy to which his
...signed is moral activity or ethies."
'उपदेशवाद' को अपने जीवन का महामन्त्र माना

है। Shelly was outspopen, Didactic poetry is my abhor-
ence." पीटर ने भी स्वच्छ कला को ही जीवन कहा है। Hist. of the
world literature pp. 166, 200. "Peter says that Life
should be lived as a fine art."

इसी उपदेशवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में क्रोचे ने 'अभिव्यञ्जनावाद'
के रूप में अपनी सुगुप्त भावनाओं का उद्गार किया है। वह स्वभाव से ही मनुष्य
को दार्शनिक या कलाकार समझता है। वह कल्पना को सौन्दर्य बोध या ग्रहण
की शक्ति मानता है। बाह्य अभिव्यक्ति को आन्तर अभिव्यञ्जना का ही विशदतम
प्रकटीकरण कहता है। कल्पना के अभाव में प्राकृतिक सौन्दर्य का शाश्वत
स्पन्दन नहीं समझा जा सकेगा, क्योंकि अभिव्यञ्जना ही उसका एक मात्र क्षेत्र
है। 'क्रोचे' की इन मान्यताओं का प्रतिवाद पहले तो पाश्चात्य कलाकारों ने
किया है ; किन्तु भारतीय समीक्षकों ने भी अत्यन्त मनोवेग के साथ उसकी
वास्तविकता समझने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल, डा० दास, श्रीनन्द-
दुलारे वाजपेयी, श्री गुलाबरायजी, डा० उपाध्याय प्रभृति उद्भट आलोचकों
की पैनी दृष्टि से यह विषय अछूता नहीं है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि, द्वितीय भाग में इसे अपने
यहाँ का पुराना 'अलङ्कारवाद' ही कहा है। किन्तु उन्होंने अभिव्यञ्जना या
कल्पना की ऊंची उड़ान को ही सब कुछ नहीं मान लिया है। उनका स्पष्ट मत
है, "अप्रस्तुतों (उपमानों) के प्रयोग में केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रह
कर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर भी ध्यान रहे।" क्रोचे का स्पष्ट मत है कि
हमारे मन में कुछ संस्कार होते हैं, उसी से रुचि, स्मृति, ध्यान और अद्भुत
की सृष्टि होती है। ये सब अभिव्यञ्जना का वाह्याङ्ग है। हमारी रुचि, हमारा
ध्यान, हमारी स्मृति सदैव अद्भुत की ओर आकृष्ट होती है। उसी से हमारे
मन में कुछ संस्कार निर्मित और प्रौढ होते हैं। सुन्दर असुन्दर, सत-असत का
विचार तो मानसिक व्यापार से सम्बन्ध रखता है। उसने मन के कार्यों को ज्ञान
और क्रिया में, ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान और तर्क सम्बन्धी ज्ञान तथा क्रिया को
प्रेय (लाभात्मक) और श्रेय (कल्पनात्मक) भावों में विभाजित किया है।
किन्तु जहाँ तक कला का क्षेत्र है वहाँ मन की तथा प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञान
(Intuition) की सर्वाधिक प्रधानता ही निरूपित है। अभिव्यञ्जना ही
सौन्दर्य का प्रतीक है, उसका विकास कला में होना है। कलात्मक अभिव्यञ्जना
विभिन्न सरणियों में अभिव्यक्त होती है। अन्तः संस्कार, आध्यात्मिक

कलापरक योजना, आनन्द और उसकी शब्द, स्वर, गति, रेखा ही सौन्दर्य बोध के सापेक्ष्य साधन हैं।

अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के सम्बन्ध में 'क्रोचे' का मत है कि "All art is expression, therefore all expressior is art." रहा काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में, इस पर भी उसकी स्पष्ट मत है कि 'होमर' के 'ओडेसी' काव्य को पढ़ कर कितने लोग सैनिक हुये हैं अर्थात् चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना ही लोगों में परिवर्तन करती है। यही कारण कि काव्य मे अभिव्यञ्जना का ही अधिक महत्त्व है।

कला स्वतः पूर्ण होती है। 'कला का उद्देश्य कला ही है।' कवि अपनं कल्पना के बल पर शब्द तथा अर्थ की अभिव्यञ्जना करता है, वह उसमे उत्प प्रभाव के चक्कर में नही पड़ता। गायक वीणा के तारो पर ही अपनी अँगुलिय घुमाता है, चित्रकार का ध्यान पूर्ण तन्मयता के साथ तूलिका फेंके में ही रमत है—उसके परिणाम की ओर नही रहता।

इस प्रकार यदि सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत विषय पर विचार किया जाय त निम्नलिखित आक्षेप 'अभिव्यञ्जनावाद' के ऊपर लगाये जाते हैं।

१—'क्रोचे' ने कल्पना की प्रधानता से काव्य को ज्ञानात्मक (Intu tion) माना है। किन्तु 'रस-सिद्धान्त' के अनुसार उनका मूल रूप भावात्म माना गया है।

२—कल्पना का कार्य मूर्त रूप या आलम्बन खड़ा करना है तो इस क्षेत्र कला तक ही क्यों सीमित किया जाय ? विज्ञान, दर्शन या अन्य शास्त्रों त उसकी पैठ क्यों नही है ?

३—क्रोचे काव्यानुभूति और भावानुभूति मे अन्तर समझता है, क्यो भावानुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक होती है। यदि काव्यानुभूति का भावोद्र से सम्बन्ध नही है तो क्यो करुण आख्यानो को सुनकर आँसू निकलने लगते ह

४—वक्रोक्तिवाद व्यापक काव्य भावना है जिसमे रस और ध्व चिपके हैं। यह पाश्चात्य अभिव्यञ्जनावाद नही हो सकता क्योंकि यह रीति, र ध्वनि को स्वीकार नही करता।

५—अभिव्यञ्जनावाद स्थूल रूप से केवल चमत्कारवाद है जिसमे न रस के लिए आग्रह है और न अलङ्कार के लिए प्रेम। वह कला के नैतिक आध पर विश्वास नहीं रखता। 'कुन्तक' का 'वक्रोक्तिवाद' केवल वाग्वैदग्ध्य है जो केवल शब्द या अर्थ मे चमत्कार उत्पन्न करता है।

है। Shelly was outspopen, Didactic poetry is my abhor-
ence." पीटर ने भी स्वच्छ कला को ही जीवन कहा है। Hist. of the
world literature pp. 166, 200. "Peter says that Life
should be lived as a fine art."

इसी उपदेशवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में क्रोचे ने 'अभिव्यञ्जनावाद'
के रूप में अपनी गुप्त भावनाओं का हुंकार किया है। वह स्वभाव से ही मनुष्य
को दार्शनिक या कलाकार समझता है। वह कल्पना को सौन्दर्य बोध या ग्रहण
की शक्ति मानता है। वाह्य अभिव्यक्ति को आन्तर अभिव्यञ्जना का ही विशदतम
प्रकटीकरण कहता है। कल्पना के अभाव मे प्राकृतिक सौन्दर्य का शाश्वत
स्पन्दन नही समझा जा सकेगा, क्योंकि अभिव्यञ्जना ही उसका एक मात्र क्षेत्र
है। 'क्रोचे' की इन मान्यताओं का प्रतिवाद पहले तो पाश्चात्य कलाकारो ने
किया है; किन्तु भारतीय समीक्षको ने भी अत्यन्त मनोवेग के साथ उसकी
वास्तविकता समझने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल, डा० दास, श्रीनन्द
दुलारे वाजपेयी, श्री गुलाबरायजी, डा० उपाध्याय प्रभृति उद्भट आलोचक
की पैनी दृष्टि से यह विषय अछूता नही है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि, द्वितीय भाग मे इसे अ
यहाँ का पुराना 'अलङ्कारवाद' ही कहा है। किन्तु उन्होने अभिव्यञ्जना
कल्पना की ऊची उड़ान को ही सब कुछ नही मान लिया है। उनका स्पष्ट मत
है, "अप्रस्तुतों (उपमानो) के प्रयोग में केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रह
कर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर भी ध्यान रहे।" क्रोचे का स्पष्ट मत है कि
हमारे मन मे कुछ संस्कार होते हैं, उसी से रुचि, स्मृति, ध्यान और अद्भुत
की सृष्टि होती है। ये सब अभिव्यञ्जना का वाह्याङ्ग है। हमारी रुचि, हमारा
ध्यान, हमारी स्मृति सदैव अद्भुत की ओर आकृष्ट होती है। उसी से हमारे
मन मे कुछ संस्कार निर्मित और प्रौढ होते हैं। सुन्दर असुन्दर, सत-असत् का
विचार तो मानसिक व्यापार से सम्बन्ध रखता है। उसने मन के कार्यों को ज्ञान
और क्रिया में, ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान और तर्क सम्बन्धी ज्ञान तथा क्रिया के
प्रेय (लाभात्मक) और श्रेय (कल्पनात्मक) भावो मे विभाजित किया है
किन्तु जहाँ तक कला का क्षेत्र है वहाँ मन की तथा प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञा
(Intuition) की सर्वाधिक प्रधानता ही निरूपित है। अभिव्यञ्जना
सौन्दर्य का प्रतीक है, उसका विकास कला मे होता है। कलात्मक अभिव्यञ्
और विभिन्न सरणियों मे अभिव्यक्त होती है। अन्तः संस्कार, आध्यात्मि

कलापरक योजना, आनन्द और उसकी शब्द, स्वर, गति, रे
ही सौन्दर्य बोध के सापेक्ष्य साधन हैं।

अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के सम्बन्ध में 'क्रोचे
मत है कि "All art is expression, therefore all expressio
is art." रहा काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में, इस पर भी उसका स्पष्ट मत
है कि 'होमर' के 'ओडेसी' काव्य को पढ़ कर कितने लोग सैनिक हुये हैं।
अर्थात् चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना ही लोगो में परिवर्तन करती है। यही कारण है
कि काव्य मे अभिव्यञ्जना का ही अधिक महत्व है।

कला स्वतः पूर्ण होती है। 'कला का उद्देश्य कला ही है।' कवि अपनी
कल्पना के बल पर शब्द तथा अर्थ की अभिव्यञ्जना करता है, वह उसमे उत्पन्न
प्रभाव के चक्कर मे नही पड़ता। गायक वीणा के तारो पर ही अपनी अँगुलियाँ
घुमाता है, चित्रकार का ध्यान पूर्ण तन्मयता के साथ तूलिका फेरने मे ही रखता
है—उसके परिणाम की ओर नहीं रहता।

इस प्रकार यदि सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत विषय पर विचार किया जाय तो
निम्नलिखित आक्षेप 'अभिव्यञ्जनावाद' के ऊपर लगाये जाते हैं।

१—'क्रोचे' ने कल्पना की प्रधानता से काव्य को ज्ञानात्मक (Intuition) माना है। किन्तु 'रस-सिद्धान्त' के अनुसार उनका मूल रूप भावात्मक
माना गया है।

२—कल्पना का कार्य मूर्त रूप या आलम्बन खड़ा करना है तो इसका
क्षेत्र कला तक ही क्यों सीमित किया जाय? विज्ञान, दर्शन या अन्य शास्त्रो त क
उसकी पैठ क्यों नही है?

३—क्रोचे काव्यानुभूति और भावानुभूति मे अन्तर समझता है, क्योंकि
भावानुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक होती है। यदि काव्यानुभूति का भावोद्रेक
से सम्बन्ध नही है तो क्यों करुण आख्यानो को सुनकर आँसू निकलने लगते हैं।

४—वक्रोक्तिवाद व्यापक काव्य भावना है जिसमे रस और ध्वनि
निपके हैं। यह पाश्चात्य अभिव्यञ्जनावाद नही हो सकता क्योंकि यह रीति, रस,
ध्वनि को स्वीकार नहीं करता।

५—अभिव्यञ्जनावाद स्थूल रूप से केवल चमत्कारवाद है जिसमे न तो
रस के लिए आग्रह है और न अलङ्कार के लिए प्रेम। वह कला के नैतिक आधार
पर विश्वास नही रखता। 'कुन्तक' का 'वक्रोक्तिवाद' केवल वाग्वैदग्ध्य नहीं
है जो केवल शब्द या अर्थ मे चमत्कार उत्पन्न करता है।

और वर्ण प्रकट होते हैं, जब रजोगुण से युक्त होती तब भाव व्यंजक शब्द[१] का रूप बनता है और जब तमोगुण से युक्त होती है, तब पद और वाक्य के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

भारतीय दर्शनाचार्यों ने चार प्रकार के वर्णों की कल्पना की है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। मूलाधार में नादरूप से उत्पन्न वर्ण को परा मूलाधार से ऊपर हृदय में पहुँचकर गूँजने वाले वर्ण को पश्यन्ती; हृदय से उत्पन्न वर्ण को मध्यमा और बुद्धि से बाहर आकर मुँह से प्रकट होने वाले वर्ण को वैखरी कहते हैं।[२] अतः बोली हुई वाणी वैखरी, लेखबद्ध वाणी, मध्यमा सब प्रकार की हृदयानुभूति में व्यक्त होने वाली वाणी पश्यन्ती और परमात्म-चिन्तन केवल परा वाणी का विषय है।

वैदिक साहित्य में वाक् या वाणी के दो भेद हैं—निरुक्ता और अनिरुक्ता। प्रकट या व्यक्त होने पर जो सुनाई पड़े वह निरुक्ता, जो अप्रकट या अव्यक्त हो वह अनिरुक्ता वाणी कहलाती है। वैखरी वाणी निरुक्ता होती है; मध्यमा कभी निरुक्ता और कभी अनिरुक्ता होती है, पश्यन्ती तथा परा वाणी केवल अनिरुक्ता होती है। वैखरी वाणी दो प्रकार की होती है—व्याहृता और अव्याहृता। जिन ध्वनि चिन्हों को सार्थक बना कर मनुष्य ने उन्हें व्यवहारोपयोगी और व्यापक बनाया है, वे व्याहृता वैखरी का भी प्रयोग होता है।[३] इसी के आधार पर वाक् भी तीन प्रकार की मानी गई है—दैवी, भौतिक और पार्थिव। दैववाक् का सम्बन्ध 'अनाहतनाद'[४] से है, यह योगियों को समाधिस्थ अवस्था में सुनाई पड़ता है। परा[५], पश्यन्ती और मध्यमा वाणी भी इसी कोटि

१—'भाव व्यंजको ध्वनिसमूहः शब्दः।'—देखिए 'भाषालोचन' पृष्ठ १८४

२—'परावाङ्मूल चक्रस्था पश्यन्ती नाभि-संस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठ देशजा॥

३—देखिये—अभिज्ञान शाकुन्तल का कोकिल कूजन।

४—'बिन्दुरेव समाख्यातो व्योमानाहत मित्यपि।' —देखिए 'आगम ग्रन्थ'।

५—स्फोटस्याभिन्न कालस्य ध्वनिकालानुपातिनः
ग्रहणोपाधि भेदेन वृत्ति-भेदं प्रचक्षते।
स्वभाव भेदो नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु,
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते (वा० पु० १, ३०-३१)

में आती हैं। भौतिकवाक् के अन्तर्गत वे सभी ध्वनियाँ हैं जो पञ्च महाभूतों व्यक्त होती हैं। पार्थिव-वाक् भी दो प्रकार की है—निरुक्ता और अनिरुक्ता। जिन ध्वनियों का निर्वचन, व्युत्पत्ति और अर्थ हो उन सभी ध्वनियों को निरुक्ता माना गया है। यह वाणी व्याकृता होती है, जो एक विशेष नियम के अनुसार चलती है। अतः व्यापक रूप से सर्वमान्य है। काव्य-शास्त्रियों ने केवल निरुक्ता वाक् को ही ग्रहण किया है, उसी को नियमित, संयत, सशक्त, शिष्ट और प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए शैलीगत अन्य आवश्यक अंगों का गठन किया गया है।

शब्द की प्रकृति ही ध्वनि है। शब्द-संघटन के पूर्व वैयाकरणों ने "स्फोटवादी"[१] की कल्पना की है। इसमें मुख्य रूप से वर्ण स्फोट, पद स्फोट और वाक्य स्फोट को प्रधानता मिली है। शब्द स्फोट अर्थ स्फोट में भी अन्तर है। वाक्य-स्फोट ही प्रधान रूप से अर्थ व्यक्त करने वाला माना गया है। स्फोट और ध्वनि में अन्तर है। ध्वनि, स्वर-तन्त्रियों में व्यवधान पड़ जाने पर होती है। किन्तु स्फोट स्वाभाविक रूप से हुआ करते हैं। स्पर्श-व्यंजनों के बहिः स्फोटात्मक और अन्तः स्फोटात्मक दो भेद हैं। इसके आधार पर शब्दों के दो रूप हैं—ध्वन्यात्मक और व्याकरणात्मक। शब्द, पद की उस अवस्था का बोध कराता है, जब उसमें अर्थ का उद्बोध न हुआ हो; किन्तु सामान्य रूप से उसमें अर्थ निहित हो। यही कारण है कि शब्द को 'भावाधार' माना गया है।[२]

विभक्ति और उसकी उत्पत्ति, इन दोनों के मेल से जो शब्द बनता है, वह शास्त्रीय शब्द कहलाता है।[३] महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार प्रतीत पदार्थक-ध्वनि ही शब्द है।[४] प्रसिद्ध विचारक 'स्वीट' के अनुसार आदिम

१—देखिए—भट्टोजिदीक्षित—शब्द कौस्तुभ,
स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः।

२—देखिये—'भरत नाट्यशास्त्र'—'भावाधारः शब्दः;
शब्दार्थयोनित्यत्वात्।'

३—चन्द्रालोककार जयदेव—'विभक्त्युत्पत्तये योगः शास्त्रीय शब्द इष्यते'।

४—(उद्योतः) 'भाष्ये अथवा प्रतीत पदार्थक ध्वनि'।
लोके व्यवहारेषु पदार्थ बोधकत्वेन प्रसिद्धः श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यत्वादृर्णस्य ध्वनि समूह एवं शब्द इत्यर्थः।' पृष्ठ १८
—पाणिनीय व्याकरण महाभाष्यम्—प्रथम नवाह्निकम्।

भाषा के अनुकरणात्मक, विस्मयादि बोधक और प्रतीकात्मक थे।[1] इतना तो निश्चय है कि भाषा में शब्द-योजना अव्यक्तानुकरण और भावाभिव्यञ्जन दोनों कारणों से होती है। कभी-कभी धातु के द्वारा अज्ञात की व्याख्या की जाती है जिसे उपचार कहते हैं। ऐसे बने हुए शब्दों को औपचारिक शब्द[2] कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी शब्दों के चार भेद किये गये हैं। कुछ शब्द एकाक्षर धातु के समान होते हैं, कुछ शब्दों की रचना में प्रकृति और प्रत्यय का योग रहता है, कुछ बुद्धि-ग्राह्य होते हैं और कुछ समस्तपद होते हैं। इस प्रकार ये धातु-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान और समस्त पद अथवा वाक्य-शब्द के रूप में व्यवहृत होते रहे हैं।

शब्द के शास्त्रीय रूप पर भी यदि विचार किया जाय तो उपरिलिखित साम्य के अनुसार इसका क्रमिक विकास भी विदित हो जाता है। शब्द का धातुगत अर्थ—आविष्कार करना अथवा शब्द करना भी है।[3] लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि ही शब्द है।[4] ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense of meaning) दोनों के संयोग से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। अन्य अनेक वाचकों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का जो एक मात्र वाचक होता है, वह शब्द है।[5]

वर्ण और शब्द का उद्भव और विकास जान लेने के उपरान्त यह आवश्यक है कि उसके महत्त्व पर भी विचार किया जाय। संस्कृत-साहित्य में संघटना आदि पर और रसौचित्य आचार्यों ने बहुत बल दिया है।[6] हिन्दी में आए दिन

१—विशेष अध्ययन के लिए देखिए—
History of Hindi Languages by Sweat
From page 33 to 35
and New English Grammar, on page 192

२—देखिये—'भा० वि०—डा० श्यामसुन्दर दास कृत, पृष्ठ ३८।

३—शब्द आविष्कारे। शब्द शब्द करणे।
—देखिए, 'सिद्धान्त कौमुदी।'

४—शब्दोऽम्बरे यशोगीत्योर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ। हैमः।

५—शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
—'वक्रोक्ति जीविता' (कुन्तक)

...चित्यस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।'
... विचार चर्चा।

नितान्त आवश्यक है। संस्कृत-साहित्य में तो एक शब्द का भी शुद्ध ज्ञान लेने पर बहुत बड़े यश का भागी होना कहा गया है। 'एक ..
यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय और सुन्दर रूप से यदि उसका प्रयोग किया जाय, तो वह शब्द लोक और परलोक दोनों में अभिमत फल का दाता होता है'।[1] सम्यक् प्रयोग होने से कामधेनु के समान शब्द हमारा सर्वार्थ सिद्ध करता है और दुष्प्रयुक्त होने से प्रयोक्ता की ही मूर्खता प्रमाणित करता है।[2] अतएव शब्दों की ही मूर्खता प्रमाणित करता है।[3] अतएव शब्दों की अर्थ—द्योतन-सामर्थ्य अपरिचित होने पर हम 'अज्ञ' तो नहीं 'अनभिज्ञ' अवश्य कहे जाएँगे। शब्दों का शुद्ध और सुन्दर प्रयोग सीखने के लिए अन्तर्निहित अर्थ-बोध के तत्त्ववाद को समझना भी आवश्यक है।

भरत की 'आत्मग्लानि' और गोस्वामी तुलसीदास के 'दैन्य' भाव से तो सभी परिचित हैं, किन्तु 'ग्लानि' और 'दैन्य' शब्दों का अर्थ-बोध क्या है ? इसे भी जानना आवश्यक है। परिश्रम, दुख, भूख, प्यास आदि के कारण उत्पन्न हुई विशेष निर्बलता का नाम ग्लानि है। इसमें देह का काँपना, किसी काम में उत्साह का न होना आदि प्रकट होता है।[4] 'दैन्य' मन की उस दशा का नाम है जो दुख, दरिद्रता या किसी भारी अपराध करने के कारण उत्पन्न होती है और जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपनी हीनता, निकृष्टता या अकिंचित करता का कथन आदि करने लगता है। अपनी दुर्गति आदि के कारण जो ओजहीनता (अनौजस्य) है, वही वास्तविक रूप में 'दैन्य' भाव है।[5] आए दिन 'अमर्ष'

१—'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च काम धुग्भवति'।—महाभाष्य

२—गौर्गौः काम दुग्धा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
—दण्डी (काव्यादर्श)

३—'रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादि सम्भवा।
ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहतादि कृत्।'
—श्री विश्वनाथ कविराज कृत, साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३

४—'दुख दारिद्र्याऽपराध जनितः स्वाऽपकर्ष भाषणादि हेतुश्चित्तवृत्ति विशेषो दैन्यम्।' 'दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्य मलिनतादिकृत्' —वही, पृष्ठ ४

५—'पराकृत्याऽवज्ञादि नानापराध जन्यो मौन वाक्पारुष्याकारणी भूतश्चित्त वृत्ति विशेषोऽमर्षः।'—वही, पृष्ठ ३, ४

भाषा के अनुकरणात्मक, विस्मयादि बोधक और प्रतीकात्मक थे।[१] इतना तो निश्चय है कि भाषा में शब्द-योजना अव्यक्तानुकरण और भावाभिव्यंजन दोनों कारणों से होती है। कभी-कभी ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या की जाती है जिसे उपचार कहते हैं। ऐसे बने हुए शब्दों को औपचारिक शब्द[२] कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी शब्दों के चार भेद किये गये हैं। कुछ शब्द एकाक्षर धातु के समान होते हैं, कुछ शब्दों की रचना में प्रकृति और प्रत्यय का योग रहता है, कुछ बुद्धि-ग्राह्य होते हैं और कुछ समस्तपद होते हैं। इस प्रकार ये धातु-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान और समस्त पद अथवा वाक्य-शब्द के रूप में व्यवहृत होते रहे हैं।

शब्द के शास्त्रीय रूप पर भी यदि विचार किया जाय तो उपरिलिखित साक्ष्य के अनुसार इसका क्रमिक विकास भी विदित हो जाता है। शब्द का धातु-गत अर्थ—आविष्कार करना अथवा शब्द करना भी है।[३] लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि ही शब्द है।[४] ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense of meaning) दोनों के संयोग से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। अन्य अनेक वाचकों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का जो एक मात्र वाचक होता है, वह शब्द है।[५]

वर्ण और शब्द का उद्भव और विकास जान लेने के उपरान्त यह आवश्यक है कि उसके महत्त्व पर भी विचार किया जाय। संस्कृत-साहित्य में संघटना आदि पर और रसौचित्य आचार्यों ने बहुत बल दिया है।[६] हिन्दी में आए दिन

१—विशेष अध्ययन के लिए देखिए—
History of Hindi Languages by Sweat
From page 33 to 35
and New English Grammar, on page 192.

२—देखिये—'भा० वि०—डा० श्यामसुन्दर दास कृत, पृष्ठ २८।

३—शब्द आविष्कारे। शब्द शब्द करणे।
—देखिए, 'सिद्धान्त कौमुदी।'

४—शब्दोऽपरे यथोगाग्योर्यार्थे तो श्रवणे ध्वनौ। हैमः।

५—शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
—'वक्रोक्ति जीवित' (कुन्तक)

६—'औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'
—औचित्य विचार चर्चा।

[illegible]

दूद (पर) को [illegible] (तारा) [illegible] और [illegible] देखने को बहुत [illegible] हो रहा है, [illegible] (वनौकस्) और पादप (पौधा) को भी एक ही समझ लिया जाता है। इसी प्रकार आभरण (आभूषण), आस्तरण (गद्दा), गदा (गदा), सर्वदा (सब प्रकार से) सर (बाण), सर (तालाब), [illegible] (माल), [illegible] (निशान), [illegible] और [illegible] रथी (रथ) आदि जैसे शब्दों के प्रयोग के समय भी हम [illegible] हो जाते हैं। कभी-कभी अज्ञानवश से कुछ भूल हो जाया करती है। जैसे 'प्रत्र' के लिए (पुत्र) 'नन्याय' के लिए (नन्याय), 'व्यावहारिक' के लिए (व्यवहारिक) छात्र के लिए छात्र, 'उपलब्ध' के लिए (उपलब्ध), शासन के लिए (शाशन), श्रेष्ठ के लिए (श्रेष्ट) आदि ऐसे बहुत-से शब्द हैं जिनका अन्यथा प्रयोग साधिकार किया जा रहा है। 'दया, कृपा, करुणा, अनुकम्पा, अनुग्रह' का एक ही अर्थ के लिए प्रयोग होता हुआ दिखाई पड़ रहा है। 'नमस्कार' तो आजकल छोटे-बड़े सब से हो रहा है। इसके सम्मुख 'नमस्ते, प्रणाम, अभिवादन' आदि का प्रयोग लुप्त सा होता जा रहा है। आज के जनतन्त्रीय साहित्य-शासन में शब्दों के अराजकता-मूलक प्रयोग कब तक चलते रहेंगे। अतः इस दिशा में हमारे भावी साहित्यकारों को बहुत सोच-समझ कर अग्रसर होना है। हम अपने सामूहिक प्रयत्नों से ही श्रेय और प्रेय के क्षेत्र में प्रवेश कर सकेंगे—ऐसी आशा है।

शब्द के प्रसाद से ही लोक-यात्रा गतिशील है। जगत के सम्पूर्ण व्यवहारों का मौलिक आधार शब्द है। सचमुच ज्योतिः स्वरूप है शब्द की

१—'परोत्कर्ष दर्शनादि जन्यः मारथो भूतश्चित्त वृत्ति विशेषोऽसूयः।

—वही, पृष्ठ, ३, ४

लिए स्पन्द प्रवहमान रहता है। शैली का व्युत्पत्तिक अर्थ 'कलम' है।[१]। कालान्तर मे यह कलाकार के व्यक्तित्व मे अन्तर्निहित हो गया। इस सम्बन्ध पाश्चात्य कलाकारो[२] के मत जान लेने के पश्चात् भारतीय मत की सत्यता अपने आप प्रमाणित हो जायगी। पाश्चात्य मनीषियो का किसी एक निश्चित स्थान पर मतैक्य नही है। किन्तु भारतीय शास्त्र-विशारद शैली को 'रीति' कहते हैं।

वास्तव मे रीतियों का वैज्ञानिक और भाषा-शास्त्रीय विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र का एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अध्याय है। शैली के क्षेत्र मे इन

१—शैली या 'स्टाइल' शब्द लैटिन के 'स्ताइलस' शब्द से निकला है जिसका अर्थ 'कलम' है।

२—(क) पेटर—'आन्तरीक हृदय को वाणी की सुन्दरतम योजना के साथ बैठाना ही शैली है।'

(ख) स्टेन्टालसे—'किसी एक निश्चित विचार मे उसे पूर्ण प्रभाव को उत्पन्न कर देने वाली सब परिस्थितियों के योग को शैली कहते हैं।'

(ग) बफन—'शैली मनुष्य ही है।'

(घ) शौपेन हॉवर—'शैली मस्तिष्क की मुख-मुद्रा है।'

(ङ) न्यूमैन—'भाषा मे विचार करना ही शैली है।'

(च) फ्लाउवर्ट—'सारभूत शब्द का अस्तित्व होता है और वह खोजा जा सकता है। गद्य मे सौन्दर्य और सत्व के समन्वय का परिणाम ही शैली है।'

(छ) प्लेटो—'विचार और रूप दोनों का असम्पृक्त सम्बन्ध है।'

(ज) जौबर्ट—'परिचित शब्दों के द्वारा शैली पाठक के अन्तस् को बेधती है। उन्ही के द्वारा बड़े-बड़े विचार लोक-प्रचलित होते है और उसी प्रकार टक्साली बनकर सत्य-निष्ठा के साथ सबके द्वारा स्वीकृत होते हैं, जैसे, किसी परिचित छाप के सोने और चाँदी के सिक्के।'

(झ) मैथ्यू आरनोल्ड—'मनुष्य के कथनीय विचारों को एक विशेष प्रकार से आध्यात्मिक उत्तेजना की एक विशेष अवस्था मे इसे विशेष प्रकार से पुन: ढालने और ऊँचा करने को शैली कहते हैं, जिससे कि उसमें एक भव्यता और विशेषता आ जाय।'

वैयक्तिक दृष्टिकोण होता है, यहाँ तक वे भी काव्य के निकट हैं। ७ का सम्बन्ध भी जीवन से होता है। इस प्रकार सभी विधाएं सूक्ष्म रूप से ... के ही विभिन्न रूप हैं। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार काव्य के भेदों और उप-भेदों का मुख्य आधार व्यक्ति और जगत् माना गया है। एक विषयीगत (Subjective) है जिसमे कवि की प्रधानता होती है; दूसरा विषयगत (Objective) है, जिसमे शेष सृष्टि प्रधान होती है। पहले प्रकार मे प्रगति या भाव-प्रधान काव्य (Lyric) आते है, दूसरे प्रकार के काव्य को अनुकृत या प्रबन्धात्मक काव्य (Narrative) कहा गया है, जिसमे महाकाव्य और खण्ड काव्य आते है। गद्यो का भी अन्तर्भाव इन्ही के अन्तर्गत किया गया है। किन्तु निबन्ध और जीवनी इनके मध्यवर्ती माध्यम माने गए हैं। निबन्ध संग्रह की दृष्टि से मुक्तक है, वर्णन की दृष्टि से वैयक्तिक। गद्य-काव्य, भाव-प्रधान काव्य के रूप मे, उपन्यास, महाकाव्य के रूप में और कहानी, खण्ड-काव्य के रूप मे अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। इनमे संगीतात्मक लय का अभाव रहता है। काव्य का यह वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक नही है। भाव-प्रधानता दोनों रूपो मे होती है। नायक के रूप मे वैयक्तिता अनुकृत काव्यो मे भी होती है, प्रगीतो का सम्बन्ध बाह्य सृष्टि से भी हो जाता है। नाटको को 'मध्यम मार्गीय' कहा गया है।

भारतीय परम्परा मे काव्य के रूपो का सुन्दर ढग से वर्णन है। नाटकों को उसमें अधिक प्रधानता प्राप्त है। उन्हे पञ्चम वेद कहा गया है।[१] भारतीय काव्य-शास्त्र मे काव्य के दो भेद हैं—(१) दृश्य-काव्य, (२) श्रव्य-काव्य। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत रूपक या नाटक है। श्रव्य-काव्य की परिधि मे पद्य,[२] गद्य[३] और मिश्र (चम्पू) आते हैं। पद्य के अन्तर्गत प्रबन्ध, मुक्तक, प्रबन्ध मे महाकाव्य और खण्डकाव्य; मुक्तक मे पाठ्य (गीति, शृङ्गारादि) और प्रगीत मुख्य रूप से आते है। गद्य मे उपन्यास, कहानी, नाटक, जीवनी, निबन्ध और पात्र मुख्य रूप से आते है। गद्य-काव्य और पत्र मुक्तक के क्षेत्र मे आते हैं। ये सब काव्य की मुख्य-मुख्य विधाएँ हैं। इस प्रकार काव्य के रूप मे समस्त वाङ्-मय आ जाता है।

१—न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरंवेदं पञ्चमं सर्व वर्णिकम्॥———नाट्यशास्त्र।

२—गद्य, गद् धातु से बना है, जिसका अर्थ बोलचाल की स्वाभाविक भाषा है।

३—पद्य, पद् से सम्बन्धित है जिसमें नृत्त की-सी गति है।

अध्याय १४

साहित्य के गुणतत्त्व

साहित्य समाज की प्रतिच्छाया है। समाज परिस्थितियों की सृष्टि है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ परिवर्तन के चित्र उपस्थित करती हैं। हमारे अन्तर्गत भी विचारों का एक समाज है—वह अन्तर्द्वन्द्व के रूप मे अभिव्यक्ति होकर वाह्य सृष्टि से अपना रागात्मक एव सवेदनात्मक सम्बन्ध जोडता है। 'इस प्रकार समन्वयात्मक प्रवृत्ति साहित्य-सृष्टि का आदि स्रोत है'।[1]

साहित्यकार अपने काल के प्रतिनिधि होकर तत्कालीन वातावरण का चित्र उपस्थित करते हैं। साहित्य का प्रवाह काल-प्रवाह के अनुसार गत्यात्मक (Dynamic) है। जब कभी सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन होते हैं तब धार्मिक और सास्कृतिक स्तर में भी अस्थिरता आ जाती है। सास्कृतिक परिवर्तन के परिपार्श्व मे हमारी दार्शनिक चिन्तन-धारा तीव्रगति से प्रवहमान होती है और राजनीतिक उथल-पुथल से कभी-कभी धार्मिक भावना को नया मोड़ प्राप्त होता है। भारतीय चिन्तन-धारा का अजस्र स्रोत अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होता रहा है और उस पर समय-चक्र अपने विभिन्न परिवर्तनों के चित्र उपस्थित करता रहा है। प्रारम्भ मे 'प्रबन्ध की सरसता को ही काव्य कहा गया था' और उसके अनुसार 'इच्छित अर्थ को व्यक्त कर देने वाली पदावली'[2] की काव्य संज्ञा थी। किन्तु वृत्तिकारों ने 'रस आदि गुणों से युक्त, सुनने मे सुखद वाक्य'[3] को ही काव्य मान लिया। भोज के समय तक 'प्रीति और कीर्ति उसी रससिद्ध कवीश्वर को प्राप्त हो सकती थी जो दोष-रहित, गुण-सहित अलकारों से सजा हुआ रसात्मक वाक्य रचता था।'[4] इस प्रकार गुणतत्व की कल्पना भारतीय वाङ्-

---

१—प्रा० शु०—हि० सा० का इति०—पृष्ठ, १२

२—दण्डी—'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः'—काव्यादर्श।

३—शौद्धोदनि—काव्य रसादिमद् वाक्य श्रुतं सुखविशेषकृत्'।

४—भोज—(सरस्वती कण्ठाभरण)
'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।'

रूप में प्राचीन समय से ही ग्रन्तर्मुक्त थी। ग्राधुनिक साहित्य में गुण तत्वों व।
एवं नए दृष्टिकोण से देखा गया है जिनका आधार प्राचीन वाङ्मय के साथ-ही-साथ उन पर पड़े हुए विभिन्न प्रभाव भी हैं।

लोक-मंगल का विधान करता हुआ साहित्य जीवन को उल्लासमय बनाता है। यह देश की चेतन ग्रात्मा का सजीव प्रतिरूप है। विराट् भावना को व्यापक अभिव्यक्ति के रूप में इसकी धारा ग्रक्षुण्ण है। सत्तत्त्व को सकलात्मक अनुभूति में शक्ति, उपासना, ज्ञान और कर्म की स्वाभाविक प्रेरणा प्राप्त हुई। हमारे धर्म, ज्ञान और मोक्ष का ग्राधार 'सत्' है; लोक-व्यवहार का ग्राधार 'रज' है, तिर्यक योनियों का ग्राधार 'तम' है। यही सम्पूर्ण रूप में जीवन-दर्शन है जिसकी ग्रभिव्यक्ति साहित्य में होती रही है। धर्म जिसे ब्रह्मा, विष्णु ग्रौर महेश की त्रिमूर्ति कहता है, हिन्दू-दर्शन उसे सत्, रज ग्रौर तम के रूप में देखता है ग्रौर कला के क्षेत्र में उसी को सत्य, शिव ग्रौर सुन्दर कहा जाता है। इन्ही के ग्राधार पर ग्राधुनिक काल में साहित्य के गुण तत्वों की कल्पना की गई है।

हमारे जीवन के शाश्वत सत्य, 'सिद्धान्त' का रूप धारण कर लेते हैं। वे ही साहित्य की ग्रखण्ड परम्परा बन जाते हैं। विभिन्न परिवर्तनों के होते हुए भी कभी साहित्य की ग्रखण्ड परम्परा उसके विकास की गति ग्रग्रसर करती है, कभी साहित्य के गुणतत्त्व उसे सशक्त एवं प्रौढ़ बनाते हैं। साहित्य के गुणतत्त्व सुन्दर, ग्रसाधारण ग्रौर ग्रद्भुत की परिधि में चक्कर काटते हुए, 'सत' स्वरूप को ही ग्रभिव्यक्त करते हैं। सुन्दर से वस्तु-विशेष के प्रति हमारा ग्राग्रह ग्रौर मोद होता है, ग्रसाधारण से हमारी श्रद्धा उन्मुख होती है ग्रौर ग्रद्भुत हमारी कुतूहल वृत्ति को तृप्त करता है। सुन्दर सामञ्जस्य ग्रौर सन्तुलन होता है, ग्रसाधारण का सम्बन्ध व्यक्तित्व से है ग्रौर ग्रद्भुत, कर्म क्षेत्र में ग्राकर विभिन्न घटनाग्रों का विधान करता है। महर्षि बाल्मीकि श्री राम के ग्रसाधारण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ही काव्य-रचना की दिशा में ग्रग्रसर हुए थे। उसके ग्राधार भी यही साहित्य के सर्वमान्य ग्राधार—गुणतत्त्व ही थे।

साहित्य के गुण तत्व मानव की विभिन्न रुचियों ग्रौर ग्राकाक्षाग्रों पर ग्राधारित हैं। इनका क्षेत्र सीमित न होकर ग्रत्यन्त व्यापक है। कभी-कभी देश, समाज, मातृभूमि तथा वस्तु या व्यक्ति विशेष के प्रति हमारी ग्रटूट श्रद्धा विशेष रूप से उन्मुख हो जाती है, वही हमारे ग्रत.करण का 'स्थायी भाव' बन जाता है। उसमें हमारी श्रद्धा या तो रूढ़िगत होती है या परम्परा के प्रसाद के रूप में हमें प्राप्त होती है। कालान्तर में यही हमारे दृढ़ विश्वासों का ग्राधार शिला बन जाती है। हमारी मनोवृत्तियाँ जिन कारणों

से उनकी ओर आकृष्ट होती हैं, उनमें प्राथमिकता साहित्य के 'सुन्दर' गुणत्व को प्राप्त होती है।

सुन्दर—

चेतन मन अपने संकल्प-विकल्प से समस्त सृष्टि के सौन्दर्य का अन्वेषक है। 'सौन्दर्य क्या है ?' इस विषय पर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों में बड़ा मतभेद है। भारतीय मनीषी ने तो 'क्षण-प्रति-क्षण परिवर्तित होने वाले रूपों में ही सौन्दर्य का आभास पाया है।'[१] पश्चात्य कलाकारों ने 'तन्मयता की भावना'[२] को सौन्दर्य का मूल माना है; किन्तु यह तो सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया है, सौंदर्य की कसौटी नहीं। 'तादात्म्य की भावना'[३] कारण विशेष पर आधारित है, सौंदर्य-बोध के विविध उपकरणों पर नहीं। मानव में अन्तस्थ चेतना, कल्पना, मूर्च्छना और भावना के नीड़ हुआ करते हैं। उसी में उसकी अभिव्यक्ति-चातकी, दामिन, सत्य, शिव, घनश्याम की ओर निर्निमेष देखा करती है। भावनाओं तथा अभिव्यक्तियों के सामञ्जस्य तथा एकरूपता लाने के लिए अनुपात, संगति और सन्तुलन की आवश्यकता पड़ती है जो सौन्दर्य बोधात्मक पक्ष को पुष्ट करता है। सौन्दर्य बोध, विषय गत (Objective), विषयीगत (Subjective) या उभयगत होता है। साहित्य का 'सुन्दर' गुणत्व भावनाओं के उदात्तीकरण का भी साधन है।

असाधारण—

मानव-मन का यह सूक्ष्म नियम है कि जो वस्तु साधारण होती हुई भी असाधारण हो, सामान्य होती हुई भी विशेष हो—उसकी ओर ध्यान शीघ्रता से केन्द्रित होता है, उसके सम्बन्ध में विचार करने का उसको कार्य-रूप में परिणत करने का हमारा कौतूहल बढ़ जाता है। इस प्रकार जब वस्तु-विशेष के प्रति हमारा आकर्षण बढ़ हो जाता है तब हमारा रागात्मक सम्बन्ध जुड़ने लगता है और वह हमारी चाह और जिज्ञासा का विषय बन जाता है। इस तत्त्व के मूल में श्रद्धा का भाव निहित है जिससे तादात्म्य-अवस्थान की अनुभूति [illegible] श्रद्धा में [illegible] जाती है [illegible] होती है। [illegible] होते हुए भी जब श्रद्धा [illegible] नहीं जाती। श्रद्धा और [illegible] मन का [illegible] हम हृदय से [illegible] लिए कुछ नहीं [illegible]।'

१—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः।

२—Concept of Empathy.

३—Sense of Hyp[illegible]

ामाजीकरण साहित्य के 'असाधारण' गुणतत्त्व से होता है। हम काव्य में ाधारण' उसे कहते हैं जो आनन्द के क्षणों के आत्म-विभोर न हो उठे तथा कष्ट पड़ने पर घबड़ा न जाय' उसी के प्रति हमारी श्रद्धा अपने शत-शत । मे फूटती है तथा यही हमारा 'आदर्श' बन जाता है।

्भुत—

इससे हमारी कौतूहल वृत्ति में वर्द्धक्य होता है। इसमे 'भय' का समा- न होना चाहिए नहीं तो वह 'भयानक' का रूप धारण कर लेना है जो ारी उत्सुकता को आगे बढ़ने से रोकता है। संस्कृत साहित्य मे इस तत्त्व का योग नैतिकता को पुष्ट करने के लिए किया गया है। भारतीय अवतारों के । मे यही तत्त्व निहित है। साहित्य में अलौकिक विश्वासों की परिधि अत्यन्त ापक है। भूत, प्रेत, पिशाच, देवयोनि-परम्परा, परियाँ आदि सब आ जाती हैं। कस्मिक संकटों से बचने के लिए मनुष्य की वृत्तियाँ कभी-कभी धार्मिकता की र उन्मुख होती हैं, कभी उनमे दृढ़ विश्वासों की सृष्टि करती हैं। इस प्रकार घटनाओं का प्रेरक तत्त्व यही है।

संक्षेप मे साहित्य के गुणतत्त्वों से क्रमशः हमारे स्नेह या अनुराग के व का पोषण होता है, हमारी विवेक-वृत्त तृप्त होती है और हमारी जिज्ञासा नव भावनाएँ शान्त होती हैं। वस्तुतः इन्हीं तत्त्वों के आधार पर भारतीय र योरोपीय गुणतत्त्वों के बीच एक विभाजक रेखा खींची जाती हैं। योरोपीय लाकारों ने केवल 'सुन्दर' को ही स्वीकार किया है, 'असाधारण' और 'अद्भुत' । विवेचन उनके द्वारा नहीं हो सका, जिससे कला मे प्रभविष्णुता और मणीयता न आ सकी। प्लेटो का मत है कि 'यदि कोई वस्तु सुन्दर नहीं है । इसलिए है कि वह पूर्ण सौन्दर्य का एक भाग है और किसी कारण से नहीं।' ्म का मत है कि 'स्वतः वस्तुओं में सौन्दर्य नाम कोई गुण नहीं है। सौन्दर्य । उस मस्तिष्क मे निवास करता है।' जो भी वस्तु किसी अंश मे हमें आनन्द दान करती है वह सुन्दर' है सौन्दर्य वह आनन्द है जो ' वस्तु का गुण ाना जाता '' ोटेन ने कहा कि 'आनन्द लेने की हमारी सनातन

अध्याय १५

काव्य के पक्ष-द्वय

जिस प्रकार ब्रह्मा ने कई पदार्थों के समीकरण से पंच भौतिक सृष्टि का निर्माण किया है, मानव शरीर को रूप और रंग दिया है, उसी प्रकार काव्य जगत् के ब्रह्मा ने भी उसके हृदय के दो पक्ष कर दिये हैं। इस पक्ष-द्वय की कल्पना चिर प्राचीन होते हुए भी चिर नवीन है। सन्त कवियों ने भी अन्तःकरण की शुद्धि के बल पर ही ईश्वर साक्षात्कार की कल्पना की थी। बाह्याडम्बरों की उन्होंने कटु आलोचना की थी। किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के हृदय को यदि देखा जाय तो उसके भी दो भाग दिखाई पड़ेंगे—एक उसका अनुराग पक्ष तथा दूसरा विराग पक्ष होगा; एक सतत विकासशील तथा दूसरा कठिनाइयों की कठोर चोट खाकर ठोस रूप धारण करने वाला। प्रथम पक्ष में उसके हृदय की प्रधानता तथा द्वितीय में मस्तिष्क की प्रधानता होती जायगी। इन्हीं दोनों के सन्तुलित सम्मिश्रण ही से तो काव्य की सृष्टि होती है। अपने हृदय तथा मस्तिष्क को जब व्यक्ति भाव की उच्च भूमि तक पहुँचा देता है तब वहीं से भावनाएँ अपने आप शब्दों के रूप में मूर्त होकर फूटने लगती हैं। उसको उस तन्मयता में सृष्टि का सारा आनन्द विदित कर प्रतीत होने लगता है, वह एक अलौकिक आनन्द का उपभोग करने लगता है, हृदय में सर्वप्रथम गतिशीलता आती है, गतिशीलता ही जीवन है। यह जीवन तभी तक सम्भव है, जब तक मानव, मानव बना रहे, उसमें मनन-शीलता रहे, उसमें नव-विचार हों तथा अनुभूतियाँ हों। उसकी यही अनुभूतियाँ जब प्रकट होकर शब्दों के आवरण में निराकार अथवा मूर्त रूप धारण करने

स्वत कला-पक्ष के आवश्यक अवयव हैं। रस मे ही भावों का आस्वाद होता
है, इसलिए इसको काव्य का अन्तःपक्ष माना गया है। काव्य के अन्तरंग और
वहिरंग रूप मे ही काव्य का चमत्कार सम्भव है। इनमें से यदि किसी की भी
कमी हुई तो काव्य लँगड़ा हो जायगा। भाव ही कलामात्र के आधार हैं। अलं-
कार, रीति और वृत्ति तो कलाओं के सौन्दर्य और चमत्कार के हेतु हैं। यही
कारण है कि विचारो को फलित करने वाला हमारे यहाँ 'सौन्दर्य पक्ष' कहा
गया है। पश्चिम के कलाकार इसी को कलापक्ष मानते हैं। इसी कलापक्ष को
ही लेकर पश्चिम मे 'कला, कला के लिए' का नारा लगाया गया। परिणाम
यह हुआ कि कला से जीवन-पक्ष दिनोंदिन दूर होता गया और उसकी स्वभा
विकता अपने आप नष्ट होने लगी। कलात्मक रूप से सजी हुई भाषा जो भा
का व्यंजन करती है, कविता कहलाती है। आचार्य शुक्ल ने भी कहा है :—

"आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है।" कविता व्यक्ति
हृदय से प्रादुर्भूत होकर जगत् के वर्ण्य और अवर्ण्य विषयो से जब अपना स
जोड़ने लगती है, तभी तो उसका स्वरूप निखरने लगता है।" भाव
भाषा से गुम्फित हुआ उसका स्वरूप मानवता की उच्चभूमि तक पहुँच
है। कविता द्वारा व्यक्ति और समाज का संस्कार एव विकास होता है।
का सोता हुआ स्थायी भाव जाग उठता है। विचारो के ज्ञानगम्य अ
परिचित होना ही समाज की परिवर्तित विचारधारा से परिचित
भावाभिव्यक्ति की शैली ही कलाओ का रूप धारण कर कविता वन
भावो का स्वरूप तो कविता का आधार है ही परन्तु उन भावो को
वाली भाषा को उचित स्वरूप देना, शब्दो को सघटित करना, अलंक...
सजाना, गुणवती बनाना, शब्द-शक्तियो तथा ध्वनियो के माध्यम द्वारा उद्बुद्ध
विचारो को पुष्ट बनाकर भावो मे रसमय कर देना—यही तो कला-पक्ष के कार्य
हैं तभी तो मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्य-प्रकाश' मे लिखा है :—

"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावन लकृती पुनः क्वापि।"—'शब्द औ
अर्थ जो दोष रहित हो तथा उसमे अलकार भी हो और कभी-कभी न भी हो,
उसे काव्य कहते हैं।' इसी मे सभी विचारो का समन्वय हो जाता है।

पाश्चात्य आचार्यों ने भी काव्य मे 'कल्पना', 'भावना' और 'जीवन'
की प्रधानता माना है। मैथ्यू का तो कहना है, 'कविता जीवन की आलोचना
है।' कारलाइल का मत है, 'कविता संगीतमय विचार है।' इस प्रकार यदि
गम्भीरतापूर्वक इनके भी तत्त्वो पर विचार किया जाय तो भाव और कला-पक्ष
मे इनका भी समन्वय भलीभाँति हो जाता है। भारतीय चरित्र की सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि यह सभी भिन्न प्रतीत होती हुई ध्वनियों को अपने में मिला कर उन्हें एक नया रूप प्रदान करता है।

कभी कभी तो भावुकता को इतनी अधिक प्रधानता हो जाती है कि भाव कवि या लेखक के हाथों से निकलकर इधर-उधर भागने लगते हैं और कवि के भावों से उसके पात्र बोझिल हो जाते हैं। जैसे श्री जयशङ्कर प्रसाद जी के पात्र उनके आदर्शों से प्रभावित हो जाते हैं और कभी तो केशवदास की भाँति केवल शब्दाडम्बर ही परिलक्षित होता है। काव्य का स्वरूप तो इन दोनों के समन्वय से ही प्रस्फुटित होता है। जिस प्रकार बिना भाषा के भाव नहीं हो सकते और बिना भावों के उनका अभिव्यञ्जन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष में भी अभेद की स्थापना हो जाती है। भावों की साधना भाषा या कला की साधना के साथ-ही-साथ चलनी चाहिए—इसी में कल्याण है।

यदि कला सौंदर्य की अभिव्यक्ति है तो जीवन उसकी साधना। प्रकृति की प्रेरणा पर ही कला के वातावरण का उदय होता है। जिस प्रकार जीवन अनेक विरोधी घटनाओं तथा द्वन्द्वों का सम्मिलित रूप है, उसी प्रकार कविता भी हमारे परिपूर्ण द्वन्द्वों की वाणी है। इसके अभिव्यञ्जन स्रोत ही से काव्य का स्पन्दित है।

वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी,
दलित भारत की ही विधवा है।"

तथा अपने जीवन तथा अद्वैत के सूक्ष्म चिन्तन में व्यस्त कवि निराला का हृदय भी 'एक दीन भिखारी' की कारुणिक अवस्था को देखकर उसके साथ चल पड़ा। यह है भाव प्रवणता तथा भावुकता जिसने दीन भिक्षुक को भी अपने साथ ले लिया—

"वह आता—
दो टूक कलेजों को करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट, पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक—
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता। वह आता—

× × ×

साथ में दो बच्चे हैं, सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते—
तथा दाहिना दया दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।"

किस हृदय को थोड़ी देर तक भाव निमग्न नहीं कर देते। यही नहीं भावुकता के ही कारण 'सूर' का चिर विरही हृदय गोपियों के रूप में उद्धव से उलझता है तथा समस्त ब्रज के मार्मिक एवं टूटे हुए हृदय का सच्चा चित्र अंकित करता है। जायसी का 'नागमती विरह वर्णन' तथा गुप्त जी की 'यशोधरा' के करुण-क्रन्दन में न केवल मानव समाज अपितु प्रकृति के जड़ पदार्थ भी योग देने लगते हैं। तभी तो ग्रीष्म के आने पर 'यशोधरा' कहती है :—

"तप मेरे मोहन का उद्धव, धूल उड़ाता आया।
हाय, विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।।"

यह है कवि का हृदय तथा उसकी भावुकता का सच्चा चित्र।

कवि तथा उसकी भावुकता के सम्बन्ध पर तो प्रकाश डाला जा चुका, अब काव्य के तीन तत्व भाव, विचार और कल्पना के आधार पर इसका विचार किया जायगा। कवि का हृदय है भावों, विचारों और कल्पनाओं का नीड़। भावावेश या तीव्रानुभूति में वही विचार वाणी के रूप में फूट पड़ते हैं। इसी

ल्पना को हमारे महर्षियों ने 'प्रतिभा का रूप दिया था, जिसके दो भाग हुए —(१) भावयित्री (२) कारयित्री—प्रथम से तो भावगुण और द्वितीय में कवि की कर्तृत्व शक्ति का परिचय होता था। इसी के आधार पर काव्य में कल्पना-तत्व, बुद्धि तत्व, भाव तत्व और चमत्कार तत्व माना गया है। काव्यानन्द में कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और भाव तत्व के साथ ही चमत्कार तत्व की तुलना के साथ रस का भी सम्बन्ध है। भारतीयों ने नाटक को प्रधानता देकर कल्पना को अनिवार्य साधन के रूप में रक्खा है। इस प्रकार काव्य के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों रूपों में भावुकता की आवश्यकता पड़ती है। कवि अपनी मानसिक प्रवृत्ति और कल्पना के सहारे जब कोई भाव प्रकट करता है और जब वह भाव अन्य में भी प्रतिबिंब उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तभी यह कहा जाता है, कि वह काव्य प्रकृत काव्य है। कवि और काव्य लोलुप के हृदयगत भावों का तादात्म्य होने से ही यथेष्ट आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। लेखक या कवि के विचार जब अपने विषय प्रतिपादन में ही लगे रहते हैं तब उन्हें बुद्धि तत्व कहा जाता है, क्योंकि कवि अपने विचारों को अपनी कृति में अभि-व्यक्त करता है। जिन भावों को कवि का हृदय स्वयम् उत्पन्न करता है और जिनको वह पाठकों के हृदय में संचार करता है, वे उसके रागात्मक तत्व हैं। मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे वह अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सामने वैसा ही रखने का प्रयत्न करता है, कल्पना तत्व कहलाती है।

इस प्रकार जितनी ही रचनाएं हैं, सब अपने रचयिता के मस्तिष्क और हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। उनका रचयिता उनके प्रत्येक पृष्ठ में अदृश्य रूप से व्याप्त रहता है। अतएव किसी की भावुकता, कल्पना आदि को समझाने के लिए उसके अन्तः और बाह्य साक्ष्यों पर भी विचार कर लेना आवश्यक होता है। कवि का हृदय ही भावों का जनक है, उसकी सारी भावुकता उसके हृदय के रागात्मक तत्व से ही सम्बन्धित है, परिवर्धित, तीव्र या उद्दीप्त भावों को ही मनावेग या 'राग' कहते हैं। अस्तु कवि और भावुकता का अन्योन्याश्रित सम्पर्क है। दार्शनिकों ने ज्ञान की पाँच अवस्थायें मानी हैं—(१) परिज्ञान (२) स्मरण (३) कल्पना (४) विचार (५) सहज ज्ञान। नेत्र बन्द करने पर बिम्ब रूप, स्मरण करने पर प्रत्यक्ष और कल्पना से उसमें आकार तथा विचार से रूप और रंग तथा सहज ज्ञान से उसकी तदाकारता का ज्ञान होता है। यही कारण है कि कवियों की भावुकता के भी भिन्न-भिन्न स्वरूप हुआ करते हैं। किसी में 'कथोपकथन' कराने की भावुकता, किसी में युद्ध-वर्णन, किसी में वीरता

वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी,
दलित भारत की ही विधवा है।"

तथा अपने पौरुष तथा अद्वैत के सूक्ष्म चिन्तन में व्यस्त कवि निराला का हृदय भी 'एक दीन भिखारी' की कारुणिक अवस्था को देखकर उसके साथ चल पड़ा। यह है भाव प्रवणता तथा भावुकता जिसने दीन भिक्षुक को भी अपने साथ ले लिया—

"वह आता—
दो टूक कलेजों को करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट, पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक—
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता। वह आता—

× × ×

साथ में दो बच्चे हैं, सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते—
तथा दाहिना दया दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।"

किस हृदय को थोड़ी देर तक भाव निमग्न नहीं कर देते। यही न भावुकता के ही कारण 'सूर' का चिर विरही हृदय गोपियों के रूप में उ से उलझता है तथा समस्त व्रज के मार्मिक एवं टूटे हुए हृदय का सच्चा अंकित करता है। जायसी का 'नागमती विरह वर्णन' तथा गुप्त जी की 'य धरा' के करुण-रुदन में न केवल मानव समाज अपितु प्रकृति के जड़ पदा योग देने लगते हैं। तभी तो ग्रीष्म के आने पर 'यशोधरा' कहती है :—

"तप मेरे मोहन का उद्धव, धूल उड़ाता आया।
हाय, विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।।"

यह है कवि का हृदय तथा उसकी भावुकता का सच्चा चित्र।

कवि तथा उसकी भावुकता के सम्बन्ध पर तो प्रकाश डाला अब काव्य के तीन तत्त्व भाव, विचार और कल्पना के आधार पर इस किया जायगा। कवि का हृदय है भावों, विचारों और कल्पनाओं भावावेश या तीव्रानुभूति में वही विचार वाणी के रूप में फूट पड़

। ने 'प्रतिभा का रूप दिया था, जिसके दो भाग हुए
रयित्री—प्रथम से तो भावगुण और द्वितीय से कवि
य होता था। इसी के आधार पर काव्य में कल्पना-
त्व और चमत्कार तत्त्व माना गया है। काव्यानन्द
र और भाव तत्त्व के साथ ही चमत्कार तत्त्व की
सम्बन्ध है। भारतीयों ने नाटक को प्रधानता देकर
। के रूप में रखा है। इस प्रकार काव्य के अन्तरंग
। भावुकता की आवश्यकता पड़ती है। कवि अपनी
ना के सहारे जब कोई भाव प्रकट करता है और जब
उचित उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तभी वह कहा
कृत काव्य है। कवि और काव्य स्रोतृ के हृदयगत
में ही यथेष्ट आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। लेखक
अपने विषय प्रतिपादन में ही लगे रहते हैं तब उन्हें
क्योंकि कवि अपने विचारों को अपनी कृति में अभि-
वों को कवि का हृदय स्वयम् उत्पन्न करता है और
दय में सचार करता है, वे उसके रागात्मक तत्त्व हैं।
चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे वह अपनी कृति
के हृदय-चक्षु के सामने वैसा ही रखने का प्रयत्न करता
है।

की ही रचनाएं हैं, सब अपने रचयिता के मस्तिष्क और
उनका रचयिता उनके प्रत्येक पृष्ठ में अदृश्य रूप
की भावुकता, कल्पना आदि को समझाने के
लेना आवश्यक होता
कता उसके हृदय
होस भावों को ही
का अन्योन्याश्रित सम्पर्क
—(१) परिज्ञान (२) स्मरण
५) बन्द करने पर विम्ब रूप,
और आकार तथा विचार से रूप
से उ । ज्ञान होता है। यही कारण
के र हुआ करते
युद्ध-वर्णन,

अध्याय १७

रसों के वर्ण तथा देवता

महामुनि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में मूल रस चार—शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स ही माने हैं। उनके अनुसार शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रसोत्पत्ति हुई है। यथा,

तदथा शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणोरसः।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति बीभत्साच्च भयानकः॥(नाट्यशास्त्र ६।४०)

इसके अनन्तर महामुनि ने ४३ से ४६ श्लोक तक रसों के वर्ण तथा उनके देवताओं का उल्लेख किया है। शृङ्गार का वर्ण श्याम है तथा उसके देवता विष्णु हैं; हास्य श्वेत-देवता-प्रमथ (शिव गण); करुण का वर्ण कपोत, देवता यम, रौद्र का लाल, देवता रुद्र, वीर का गौर पुखराज जैसा, देवता इन्द्र, भयानक का काला, देवता भैरव; बीभत्स का नीला, देवता महाकाल और अद्भुत का पीला (नारंगी जैसा) देवता ब्रह्मा हैं।

वास्तव में जब प्रत्येक रस का वर्ण तथा तत्सम्बन्धित देव-गणों का निर्धारण हुआ है तब उसका कुछ-न-कुछ आधार अवश्य होगा। उपर्युक्त रसों के देवता पौराणिक परम्परा के अनुसार माने गये हैं जो रसानुकूल ही निश्चित किए गये हैं। प्रत्येक स्थूल पौराणिक आख्यान के मूल में उसका सूक्ष्म तत्त्ववाद भी निहित होता है। ऐसी स्थिति में उन तत्त्ववादों की खोज नितान्त आवश्यक है। चाहे इनके मूल में धर्म-भावना की प्रधानता हो, चाहे इनसे रसों का लोकोत्तरत्व प्रमाणित होता हो, चाहे इनके वर्ण इनके गुणों के परिचायक हों, चाहे देवताओं से इन रसों की प्रवृत्तियाँ संकेतित हों, चाहे इनके अन्तर्गत अनेक अन्तर्वर्ती भावों की समष्टि हो—चाहे गुण, कर्म के अनुसार इनका विभाजन हुआ हो, इस दिशा में विचार करना आवश्यक ही नहीं, समीचीन भी है।

'हिन्दी रस गंगाधर' में शृङ्गार के देवता श्रीकृष्ण, करुण के वरुण और शान्त रस के विष्णु माने गए हैं जो और भी अधिक उपयुक्त हैं।

वर्ण-विचार—उपरिलिखित विवरण के अनुसार क्रमशः श्याम, श्वेत, कपोत, लाल, गौर, काला, नीला, पीला, आदि रंगों का विभिन्न रसों के सदर्भ में उल्लेख किया है।

तथा किसी में संयोग और वियोग और किसी में करुण एवं शान्त रसों की ही अभिव्यक्ति संभव हो पाती है। परन्तु कवि, भावुकता के साहचर्य्य से ऐसे स्थलों को नहीं छोड़ता, जो स्थायी सन्देश में वाहक हैं।

इस प्रकार जो कवि का सत्य है, वही उसकी भावुकता का भी। कवि और भावुकता के सुन्दर समन्वय मे ही सत्काव्य की सृष्टि संभव है। जब तक कवि का हृदय, उसकी भावुकता में लिपटा हुआ ससार के सभी प्राणियों का हृदय छूने नही लगेगा तब तक न तो काव्य का ही सत्य संभव है, न कला का ही और न तो कवि का ही।

ये सभी दृष्टिकोण रसभेद की अवधारणा के बाद के हैं, बहुत संभव है कि ये सभी रससूत्र से प्रभावित हुए हों। रसवर्णों के सम्बन्ध में मालती माधव, में भी लिखा हुआ है :—

> "धीरे सुवीरोऽत्सर्वाङ्गो वीरे मा सुरसीतता ।
> तत्कांचनवर्णाभा शास्त्रे इत्यादि कथ्यते ।"

शास्त्रीय विवेचन—आचार्य विश्वनाथ ने रसों के स्वरूप के अन्तर्गत रस विशेष के स्थायी भाव, वर्ण तथा देवता का उल्लेख किया है। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में रसों के वर्ण का पृथक विवेचन है। विश्वनाथ ने वीर रस का वर्ण 'हेम' लिखा है, किन्तु भरत मुनि ने उसका वर्ण 'गौर' है। यथा,

उत्तम प्रकृति वीरः उत्साहस्थायिभाव. ।

महेन्द्र देव तो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥ साहित्य दर्पण, पृ० १५५॥

वीररस वस्तुत. उत्साहमय, गौरवर्ण, उदार और गम्भीर होता है। भरत मुनि के अनुसार वीर रसोद्भव उत्साह, अध्यवसाय, अविषाद, अविस्मय तथा असमोह आदि से होता है।[1] यही कारण है कि इसका रंग 'उज्जवल' माना गया है और इसके देवता देवराज इन्द्र का होना स्वाभाविक है। इन्द्र का अमोघ अस्त्र वज्र भी पुलराज जैसा ही रंगवाला होता है। रौद्र रस क्रोधमय होता है, उसका उग्र शरीर विग्रहमय, है क्रोधातिरेक से मुखमण्डल तथा आँखे लाल हो जाती हैं, इसी से इसका रंग लाल माना गया है। महा मुनि भरत ने भयानक रस की उत्पत्ति किसी भयप्रद वस्तु को देखने-सुनने तथा भयानक शब्द करने वाले जीव को देखने, संग्राम स्थल, जंगल, शून्य गृह आदि में जाने तथा नृपति, गुरु आदि का अपराध करने के फलस्वरूप उत्पन्न भय के कारण माना है।[2] यही कारण है कि इसका रंग काला माना गया। काले रंग पर किसी भी अन्य रंग का प्रभाव नहीं होता। यह रंग देखने मे भी भयानक लगता है। अद्भुत रस के विभाव रूप आश्चर्यप्रद शब्द, शिल्प अथवा कार्य आदि होते हैं।[3] इस रस का वर्ण पीला माना गया है। किसी अनिश्चित वस्तु को देखने, उसकी गन्ध, स्वाद, स्पर्श अथवा शब्द-बोध से तथा अन्य अनेक उद्वेगकारी वस्तुओ से वीभत्स रस की उत्पत्ति होती है।[4] यह रस निन्दामय है, अतः इसका रंग भी नीला माना

१—देखिये—नाट्य शास्त्र—पृ० सं० २४१।८३
२—देखिये—नाट्यशास्त्र भरतमुनि पृ०— ३२८
३— " " वही "—३३१
४— " " वही "—३३०

रसराज और श्याम वर्ण—श्याम वर्ण में अत्यन्त ही शालीनता और व्यापकता का भाव सन्निहित है। चित्र-कला में भी इस रंग का विशेष महत्त्व है। भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण और श्री राम की वन्दना भी प्रायः इसी रंग-रूप मे की गई है। अतः धार्मिक दृष्टि से भी यह पवित्रता का द्योतक है। 'नीलाम्बुज श्यामल कोमलांगं' के रूप में भगवान राम की साकारता भी सिद्ध है। आकाश का रग भी इसी के सन्निकट है। यही कारण है कि उसकी व्यापकता देखकर गुरु की तुलना में तत्त्वदर्शी सन्तों ने भी 'सतगुरु शून्य समान है' कहा है। आकाश के विस्तृत अवकाश में ही प्रकृति का तथा इस धरती पर उत्पन्न होने वाली सभी वनस्पतियों का भी प्रतीक है। स्यात् इन्हीं कारणों से शृंगार की भी 'रस-सिद्धता' 'श्यामत्व', के ही रूप में सिद्ध है। इस रग-योजना के सम्बन्ध में अन्य दृष्टिकोणों से भी सविस्तार विवेचन सम्भव है। हो सकता है कि इन विभिन्न रगो का प्रयोग 'रंग-प्रतीक' की परिधि में आचार्यों द्वारा नियोजित हुआ है। 'वज्रयानी सिद्धो ने चार क्षणों, चार आनन्दो और मुद्राओं का बार-बार उल्लेख किया है।' क्षणो के नाम हैं—विचित्र, विपाक, विमर्द, विलक्षण। इन्ही के भेद से चार आनन्द भी परिकल्पित हैं—प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। यह प्रथमानन्द विचित्र क्षण से संयुक्त है, जिसकी अनुभूति परिरम्भण से होती है और विरमानन्द की अनुभूति समागम-सापेक्ष्य है। ऐसी स्थिति मे इन दोनो आनन्दो की शका हो सकती है, श्यामता के अन्तर्गत समाहित हो। महायानी आचार्यों ने बुद्ध के दिव्य रूप की कल्पना त्रिकाय सिद्धान्त के द्वारा चार काया रूप मे की है। रूप धातु से निर्माण-काया, काम धातु से सम्भोग काया और धर्म धातु से धर्म काया की स्वरूप-प्रतिष्ठा होती है। सिद्धो ने प्रज्ञोपाय सिद्धान्त के द्वारा चतुर्थ काया की प्रतिष्ठा की जिसमे वज्रकाया, स्वभाव-काया, सह-काया या महासुख काया मुख्य हैं। निर्माण-काया मे मानुषी रूप प्रतिष्ठा और सम्भोग काया मे आनन्द अथवा करुणा की प्रतिष्ठा होती है। इस आख्यान से भी निर्माण सम्भोग-समन्वित काया के मूल मे श्यामत्व सिद्ध होती है जो रसमत के बाद की सृष्टि है।

रग और देवता के आधार यदि विभिन्न साधना प्रक्रियाएँ हैं तो यह तत्त्ववाद तांत्रिक साधना से भी सिद्ध होता है। इसमें किसी देवता या शक्ति को सृष्टि का मूल तत्त्व माना जाता है। इसमें देवताओं के प्रतीक बीजाक्षरों और वर्णों का भी विधान होता है। न्याय और चित्रिणा तन्त्रों या श्री गणेश भी यहीं मे होता है। इस साधना-प्रणाली मे भैरवीचक्र तथा अन्य वीरचक्र, राजचक्र और देव-चक्र के आदि स्रोत रसमत मे ही अन्तर्मुक्त हो गये हैं।

वे सभी दृष्टिकोण स्कन्द की अवतारणा के बाद के हैं, बहुत संभव है कि वे स्कन्द से प्रभावित हुए हों। श्यामवर्ण के सम्बन्ध में मालती माधव, में भी लिखा हुआ है :—

"दीप्ते सुवर्णेऽगुरुवर्णाङ्गो धीर्मे या सुवर्णोत्तला।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा शास्त्रे श्यामेति कथ्यते।"

शास्त्रीय विवेचन—आचार्य विश्वनाथ ने रसों के लक्षण के अन्तर्गत
र विशेष के स्थायी भाव, वर्ण तथा देवता का उल्लेख किया है। भरतमुनि के
ाट्यशास्त्र' में रसों के वर्णों का पृथक विवेचन है। विश्वनाथ ने वीर रस का
र्ण 'हेम' लिखा है, किन्तु भरत मुनि ने उसका वर्ण 'गौर' है। यथा,

उत्तम प्रकृति वीरः उत्साहस्थायिभाव.।
महेन्द्र देव तो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥ साहित्य दर्पण, पृ० १५५॥

ीररस वस्तुतः उत्साहमय, गौरवर्ण, उदार और गम्भीर होता है। भरत
ुनि के अनुसार वीर रसोद्भव उत्साह, अध्यवसाय, अविषाद, अविस्मय तथा
मोह आदि से होता है।[1] यही कारण है कि इसका रंग 'उज्जवल' माना गया
और इसके देवता देवराज इन्द्र का होना स्वाभाविक है। इन्द्र का अमोघ अस्त्र
ज्र भी पुखराज जैसा ही रंगवाला होता है। रौद्र रस क्रोधमय होता है, उसका
ग्र शरीर विग्रहमय, है क्रोधातिरेक से मुखमण्डल तथा आँखें लाल हो जाती हैं,
सी से इसका रंग लाल माना गया है। महा मुनि भरत ने भयानक रस की
उत्पत्ति किसी भयप्रद वस्तु को देखने-सुनने तथा भयानक शब्द करने वाले
जीव को देखने, संग्राम स्थल, जंगल, शून्य गृह आदि में जाने तथा नृपति, गुरु आदि
का अपराध करने के फलस्वरूप उत्पन्न भय के कारण माना है।[2] यही कारण
है कि इसका रंग काला माना गया। काले रंग पर किसी भी अन्य रंग का
प्रभाव नहीं होता। यह रंग देखने में भी भयानक लगता है। अद्भुत रस के
विभाव दिव्य आश्चर्यप्रद शब्द, शिल्प अथवा कार्य आदि होते हैं।[3] इस रस का
वर्ण पीला माना गया है। किसी अनिच्छित वस्तु को देखने, उसकी गन्ध, स्वाद,
स्पर्श अथवा शब्द-दोष से तथा अन्य अनेक उद्वेगकारी वस्तुओं से वीभत्स रस
की उत्पत्ति होती है।[4] यह रस निन्दामय है, अतः इसका रंग भी नीला माना

१—देखिये—नाट्य शास्त्र—पृ० सं० २४१।८३
२—देखिये—नाट्यशास्त्र भरतमुनि पृ०—३२८
३— " " वही "—३३१
४— " " वही "—३३०

आकाश और श्याम वर्ण—श्याम वर्ण में व्यापकता, गम्भीरता और उदारता का भाव सन्निहित है। चित्र-रचना में भी इस रंग का विशेष महत्त्व है। भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण और श्री राम की कल्पना भी प्रायः इसी रंग-रूप में की गई है। अतः धार्मिक दृष्टि से भी यह पवित्रता का द्योतक है। 'नीलाम्बुजं श्यामल कोमलांग' के रूप में भगवान राम की आकारता भी सिद्ध है। आकाश का रंग भी इसी के सन्निकट है। यही कारण है कि इसकी व्यापकता देखकर गुरु की तुलना में तत्त्वदर्शी सन्तों ने भी 'रामगुरु तुल्य समान है' कहा है। आकाश के विस्तृत अवकाश में ही प्रकृति का तथा इस धरती पर उत्पन्न होने वाली सभी वनस्पतियों का भी प्रतीक है। स्यात् इन्हीं कारणों से शृगार की भी 'रस-सिद्धता' 'श्यामत्व', के ही रूप मे सिद्ध है। इस रंग-योजना के सम्बन्ध में अन्य दृष्टिकोणों से भी सविस्तार विवेचन सम्भव है। हो सकता है कि इन विभिन्न रगो का प्रयोग 'रग-प्रतीक' की परिधि में दावाओं द्वारा नियोजित हुआ है। 'वज्रयानी सिद्धों ने चार क्षणों, चार आनन्दों और मुद्राओं का बार-बार उल्लेख किया है।' क्षणों के नाम हैं—विचित्र, विपाक, विमर्द, विलक्षण। इन्हीं के भेद से चार आनन्द भी परिकल्पित हैं—प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। यह प्रथमानन्द विचित्र क्षण से संयुक्त है, जिसकी अनुभूति परिरम्भण से होती है और विरमानन्द की अनुभूति समागम-सापेक्ष्य है। ऐसी स्थिति मे इन दोनो आनन्दों की दशा हो सकती है, श्यामता के अन्तर्गत समाहित हो। महायानी आचार्यों ने बुद्ध के दिव्य रूप की कल्पना त्रिकाय सिद्धान्त के द्वारा चार काया रूप मे की है। रूप धातु से निर्माण-काया, काम धातु से सम्भोग काया और धर्म धातु से धर्म काया की स्वरूप-प्रतिष्ठा होती है। सिद्धो ने प्रज्ञोपाय सिद्धान्त के द्वारा चतुर्थ काया की प्रतिष्ठा की जिसमें वज्रकाया, स्वभाव-काया, सहज-काया या महासुख काया मुख्य हैं। निर्माण-काया मे मानुषी रूप प्रतिष्ठा और सम्भोग काया मे आनन्द अथवा करुणा की प्रतिष्ठा होती है। इस आख्यान से भी निर्माण सम्भोग-समन्वित काया के मूल में श्यामत्व सिद्ध होती है जो रसमत के बाद की सृष्टि है।

रग और देवता के आधार यदि विभिन्न साधना प्रक्रियाएँ हैं तो यह तत्त्ववाद तात्रिक साधना से भी सिद्ध होता है। इसमें किसी देवता या शक्ति को सृष्टि का मूल तत्त्व माना जाता है। इसमे देवताओ के प्रतीक बीजाक्षरो और वर्णों का भी विधान होता है। न्याय और चिकित्सा तन्त्रो का श्री गणेश भी यही से होता है। इस साधना-प्रणाली मे भैरवीचक्र तथा अन्य वीरचक्र, राजचक्र और देव-चक्र के आदि स ... ही अन्तर्मुक्त ो सकते हैं।

से इसी दृष्टिकोण रूपम् की अवधारणा के बाद के हैं, बहुत संभव है कि ये सभी रूपम् से प्रभावित हुए हों। रसवर्णों के सम्बन्ध में मालती माधव, में भी लिखा हुआ है :—

"श्रोते मुखोरागवर्णाङ्गी पीतमे या सुरसीलना।
तप्तकांचनवर्णाभा शास्त्रे इत्यभिनि कथ्यते।"

शास्त्रीय विवेचन—आचार्य विश्वनाथ ने रसों के लक्षण के अन्तर्गत रस विशेष के स्थायी भाव, वर्ण तथा देवता का उल्लेख किया है। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' मे रसों के वर्ण का पृथक विवेचन है। विश्वनाथ ने वीर रस का वर्ण 'हेम' लिखा है, किन्तु भरत मुनि मे उसका वर्ण 'गौर' है। यथा,

उत्तम प्रकृति वीरः उत्साहस्थायिभाव.।
महेन्द्र देव सो हेमवर्णोऽय समुदाहृतः ॥ साहित्य दर्पण, पृ० १५५॥

वीररस वस्तुतः उत्साहमय, गौरवर्ण, उदार और गम्भीर होता है। भरत मुनि के अनुसार वीर रसोद्भव उत्साह, अध्यवसाय, अविषाद, अविस्मय तथा असमोह आदि से होता है।[1] यही कारण है कि इसका रंग 'उज्जवल' माना गया है और इसके देवता देवराज इन्द्र का होना स्वाभाविक है। इन्द्र का अमोघ अस्त्र वज्र भी पुखराज जैसा ही रंगवाला होता है। रौद्र रस क्रोधमय होता है, उसका उग्र शरीर विग्रहमय, है क्रोधातिरेक से मुखमण्डल तथा आँखें लाल हो जाती हैं, इसी से इसका रंग लाल माना गया है। महा मुनि भरत ने भयानक रस की उत्पत्ति किसी भयप्रद वस्तु को देखने-सुनने तथा भयानक शब्द करने वाले जीव को देखने, संग्राम स्थल, जगल, शून्य गृह आदि मे जाने तथा नृपति, गुरु आदि का अपराध करने के फलस्वरूप उत्पन्न भय के कारण माना है।[2] यही कारण है कि इसका रंग काला माना गया। काले रंग पर किसी भी अन्य रंग का प्रभाव नहीं होता। यह रंग देखने मे भी भयानक लगता है। अद्भुत रस के विभाव हैं आश्चर्यप्रद शब्द, शिल्प अथवा कार्य आदि होते हैं।[3] इस रस का वर्ण पीला माना गया है। किसी अनिच्छित वस्तु को देखने, उसकी गन्ध, स्वाद, स्पर्श अथवा शब्द-कोष से तथा अन्य अनेक उद्वेगकारी वस्तुओं से वीभत्स रस की उत्पत्ति होती है।[4] यह रस निन्दामय है, अतः इसका रंग भी नीला माना

१—देखिये—नाट्य शास्त्र—पृ० सं० २४१।८३
२—देखिये—नाट्यशास्त्र भरतमुनि पृ०—३२८
३— " " वही "—३३१
४— " " वही "—३३०

गया है। यह रंग उदासीनता अथवा घृणा मूलक भाव का सूचक है। इस रंग को देखते ही शरीर तथा मन उदास हो जाता है। शान्त रस का रंग समरस है, क्योंकि भरतमुनि के अनुसार बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के अवरोध के द्वारा आत्म संस्थित तथा सब का हित चिन्तन करने वाली स्थिति में शान्त रस होता है।[1] करुण रसोद्रेक दुष्ट वध अथवा विप्रिय वचनों के श्रवण से होता है।[2] इसलिए इसका रंग भी कपोत जैसा माना गया है। कपोत को देखते ही करुण रस साकार हो उठता है। उनकी वाणी में भी वही भाव रहता है। 'भीगी रात के बिदा' होने की सूचना भी 'तरु पर बैठे हुए कपोत-कपोती' ही देते हैं जो 'अपने गीले पंख' सुखाया करते हैं। भरत, भूपाल तथा विश्वनाथ ने हास्य रस के छः भेद माने हैं। हास्य में भावों का विस्तार होता है। यही कारण है कि इसका रंग भी श्वेत माना गया है। शंकर के गणों द्वारा नारद ऋषि की जो हँसी कराई गई है, इसके मूल में यही 'श्वेत' वर्ण है। भूपाल तथा पंडित विश्वनाथ का कुछ-कुछ विकसित करने वाला हास्य 'स्मित' है। इसमें नयन कुछ-कुछ विकसित होते तथा अधरों में स्पन्दन होता है।

'स्मित चालक्ष्यदशनहक्कपोतविकासकृत।'

—रसार्णव सुधाकर, पृ० ११४

'ईषद्विकासनयन स्मित स्यात्स्पन्दिताधरम्।'

—साहित्य दर्पण, पृ० १५२

अधर तथा नेत्र के ईषित स्फुरण में दाँतों की श्वेतता तथा नेत्रों की श्वेतता भी परिलक्षित होती है, हास्य के श्वेत वर्ण होने का एक यह भी कारण है, इसका सात्त्विक भावों के उद्रेक से भी सम्बन्ध है, चाँदनी, कपूर और अमृत का भी रंग श्वेत ही माना गया है। हास्य स्वास्थ्यवर्द्धक भी होता है, अतः आयुर्वेद के अनुसार भी इसका रंग उचित प्रतीत होता है।

रसों के देवता

साहित्य में श्रीकृष्ण 'सुन्दरम्' के प्रतीक हैं? वे रस-रंग के प्रेमी थे और ब्रज-बालाओं के साथ विहार किया करते थे। उनकी लीलाओं में 'रास' को प्रामुख्य प्राप्त है। यही कारण है कि वे शृंगार के देवता हुए। श्रीकृष्ण का वर्ण श्याम था। यही कारण है कि वे 'यथा नाम तथा गुण' भी हुए। वे योगि-

---

१—देखिए" वही —३३५
२—देखिये—भरत का नाट्य शास्त्र पृ०—३१६

राज भी थे। इसी से प्रतीत होता है कि इसका संबंध यौगिक क्रिया हो। भगवान विष्णु द्वारा प्रेरित शिव के गण प्रमथ ने नारद ऋषि की ह उडाई थी, अतः वे हास्य के देवता हुए। हास्य मे अमर्यादित होने से शापित भी होना पडता है, भले ही यातनाएं सहने के उपरान्त प्रायश्चित का निवारण हो जाय। करुणा मे द्रावकता है, वही जल मे भी है। यही कारण है 'हिन्दी रस गगाधर कार' ने उसका देवता 'वरुण' मान लिया हो, कि मुनि के अनुसार करुणा के देवता यम माने गये हैं। कारण यह है (काल) से ही लोगो की मृत्यु होती है, जिससे शोक स्थायी भाव से इस रस की निष्पत्ति होती है। भरत मुनि की मान्यता मे विशेष औचित्य है। भगवान शंकर ने कामदेव को जलाने के लिए रुद्र रूप धारण किया था। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है, इसी से शकर का 'रुद्र' ही रौद्र रस का देवता हुआ। देवेन्द्र इन्द्र को प्रायः दैत्यों से युद्ध करना पडता था। अपने शौर्य और उत्साह प्रदर्शन के लिए उन्हे 'वज्र' का प्रयोग करना पडता था, इसी से वे 'वीर' रस के अधिष्ठाता देव माने गए। भयानक के देवता काले रग के 'काल भैरव' हैं जो सारे ससार के लिए भय-प्रद है। उनके भय से कौन थर-थर नही कांपता ? वीभत्स रस के देवता नील वर्ण वाले, ससार मे घृणास्पद दृश्य उत्पन्न करने वाले, महाकाल ही हैं। जिनका श्मशान घाट पर एक छत्र राज्य रहता है। अद्भुत रस के देवता चतुर्मुख ब्रह्मा जी है जो अपनी ब्राह्मी सृष्टि के एक मात्र सूत्रधार हैं। उनकी चूकों की परिगणना कराना तो असम्भव ही है। भृगु की लात खाकर भी जो शान्त रहे, जिनकी वन्दना 'शान्ताकार' के रूप मे की जाती है, ऐसे सर्वव्यापक विष्णु को छोड़कर शान्त रस का अधिष्ठाता देव और कौन हो सकता है ! नव रसो के वर्ण के सम्बन्ध मे तुलनात्मक परीक्षण के लिए आचार्य केशवदास के भी मतो का उल्लेख कर देना आवश्यक है। ये उदाहरण महाकवि केशव की रसिक प्रियता से उद्धृत हैं —

१—होहि वीर उत्साह मय, गौर वरण द्युति अंग।
अति उदार गभीर कहि, केशव पाय प्रसग ॥२४॥
२—प्रिय के विप्रियकरण ते, मान करुण रस होत।
ऐसो करुण बखानिये, जैसे तरुण कपोत ॥१८॥
३—होहि रौद्र रस क्रोध मे, विग्रह उग्र शरीर।
अरुण वरण बरणउ सबै, कहि केशव मतिधीर ॥८१॥
४—होहि भयानक रस सदा, केशव श्याम शरीर।
जाको देखत सुनत ही, उपजि परे भय भीर ॥२६॥

५—होहिं अचंभो देखि सुनि, सो अद्भुत रस जान।
केशवदास विलास विधि, पीत वरण वपु मान ॥३३॥
६—निंदामय वीभत्स रस, नील वरण वपु तास।
केशव देखत सुनत ही, तन मन होइ उदास ॥३०॥
७—सबते होइ उदास मन, बसै एक हीं ठौर।
ताही सो समरस कहैं, केशव कवि सिर मौर ॥३८॥

रसों के देवता तथा उनसे सम्बन्धित वर्णों के निर्धारण में भारतीय ऋषि और मुनि अत्यन्त ही सतर्क रहे। धर्म-भावना से रसों का सम्बन्ध जुड़ जाने से ये हमारे जीवन के न केवल उदात्त तत्व बनें अपितु उसके अविभाज्य अंग भी बन गए। यह भविष्य द्रष्टा आचार्यों की अत्यन्त ही पवित्र सूझ-बूझ का परिणाम है। देव योनि परम्परा के मूल मे हमारे जो भाव निहित हैं, वही भाव रस-देवता के भी स्रष्टा हैं। सचमुच यह रसमत का सुचिन्तित और उज्ज्वल पक्ष है।

टिप्पणी—तृतीय अध्याय में रस के देवता तथा वर्ण सम्बन्धी एक सामान्य सूचना मात्र लिखी गई थी, उसका सविस्तार विवेचन इस अध्याय मे अंकिया गया है।

अध्याय १८
शब्द-योजना

साहित्य-सर्जना के दो रूप होते हैं—(१) शैली रूप जो विषय को प्रस्तुत करने का ढंग विशेष है जिसकी परिधि में काव्य नाटक, उपन्यास, निबंध, गद्यकाव्य, व्यंग्य काव्य (Satire) आदि सब आते हैं; (२) भाषा शैली रूप जो एक बात को विविध ढंग से प्रकट करने का साधन है। भाषा शैली के स्वरूप-विधान में वर्ण और शब्द उसके अनिवार्य अंग हैं। अतः सर्वप्रथम वर्ण और शब्द का उद्भव और महत्त्व जान लेना ही समीचीन है।

'भाषा अभिव्यक्ति का साधन है। अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है—लेख द्वारा या भाषण द्वारा। दोनों में उस भाषा का प्रयोग होता है जो ध्वनि, वर्ण, शब्द, वाक्य, अनुच्छेद, प्रकरण और अध्याय के रूप में शैली से आवद्ध हो अपना अस्तित्व सिद्ध करती है। जो कानों से सुनाई पड़े[१] तथा जिनके अर्थ स्थिर कर लिए गए हों और जो वाणी द्वारा व्यक्त की जा सकती हों वे व्यक्त ध्वनि और शेष अव्यक्त ध्वनि कहलाती है। वाङ्मय में व्यक्त ध्वनियों का प्रयोग वर्णों या शब्दों द्वारा होता है, अव्यक्त ध्वनियों का वर्णन मात्र ही किया जाता है। व्यक्त ध्वनियाँ ही वर्ण कही जाती हैं। ये वर्ण दो प्रकार के होते हैं—ध्वन्यात्मक और अक्षरात्मक। तन्त्राचार्यों के अनुसार मनुष्य के मूलाधार के बीच में इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक 'त्रिकोण' का स्थान है जहाँ करोड़ों रूपों के प्रकाश से युक्त स्वयम्भू हैं, उसी में सर्पाकार कुण्डली मारे कुण्डलिनी शक्ति का निवास है जो स्वर, वर्ण, पद, शब्द, वाक्य और अर्थ को व्यक्त करती है। इस कुण्डलिनी से शक्ति, शक्ति से ध्वनि, ध्वनि से नाद,[२] नाद से निरोधिका, निरोधिका से अर्द्धेन्दु (ँ) अर्द्धेन्दु से बिन्दु (ं), बिन्दु से बयालीस वर्णों की वर्णमाला उत्पन्न होती है। यह चित् शक्ति जब सत्त्व-संयुक्त होती तब उससे ध्वनि और वर्ण प्रकट होते हैं, जब रजोगुण से युक्त होती है तब भाव व्यंजक शब्द[३] का रूप बनता है और जब तमोगुण

१—'यच्छ्रूयते सद् ध्वनिः।'—भाषालोचन, पृ० १७५

२—'ध्वनिरस्तिततो नादो नादाद्बिन्दु समुद्भव।'

३—'भावव्यंजको ध्वनि समूहः शब्दः।'

—देखिए, भाषालोचन, पृष्ठ १८४।

से युक्त होती तब पद और वाक्य के रूप संघटित हो जाते हैं।

भारतीय दर्शनाचार्यों ने चार प्रकार के वर्णों की कल्पना की है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। मूलाधार में नाद रूप से उत्पन्न वर्ण को परा, मूलाधार से ऊपर हृदय में पहुँचकर गूंजने वाले वर्ण को पश्यन्ती, हृदय से उठकर संकल्प और बुद्धि से मिलकर बने हुए वर्ण को मध्यमा और बुद्धि से बाहर आकर मुँह से प्रकट होने वाले वर्ण को वैखरी कहते हैं।[1] अतः बोली हुई वाणी वैखरी, लेख-बद्ध-वाणी मध्यमा, सब प्रकार की हृदयानुभूति में व्यक्त होने वाली वाणी पश्यन्ती और परमात्म-चिन्तन केवल परा वाणी का विषय है।

वैदिक साहित्य मे वाक् या वाणी के दो भेद हैं—निरुक्ता और अनिरुक्ता। प्रकट या व्यक्त होने पर जो सुनाई पड़े वह निरुक्ता, जो अप्रकट या अव्यक्त हो वह अनिरुक्ता वाणी कहलाती है। वैखरी वाणी निरुक्ता होती है; मध्यमा कभी निरुक्ता और कभी अनिरुक्ता होती है, पश्यन्ती तथा परा वाणी केवल अनिरुक्ता होती है। वैखरी वाणी दो प्रकार की होती है—व्याकृता और अव्याकृता। जिन ध्वनि-चिन्हों को सार्थक बनाकर मनुष्य ने उन्हें व्यवहारोपयोगी और व्यापक बनाया है, वे व्याकृता हैं रूपक मे अव्याकृता वैखरी का भी प्रयोग होता है।[2]

इसी के आधार पर वाक् भी तीन प्रकार की मानी गई हैं—दैवी, भौतिक और पार्थिव। दैववाक् का सम्बन्ध 'अनाहत नाद'[3] से है, यह योगियों को समाधिस्थ अवस्था मे सुनाई पड़ता है। परा,[4] पश्यन्ती और मध्यमा वाणी भी इसी कोटि मे आती हैं। भौतिक वाक् के अन्तर्गत वे सभी ध्वनियाँ हैं जो पञ्चमहाभूतों मे व्यक्त होती हैं। पार्थिव-वाक भी दो प्रकार की है—निरुक्ता और

१—परावाङ्मूल चक्रस्था पश्यन्ती नाभि-संस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥

२—देखिए—अभिज्ञान शाकुन्तल का [illegible]।

३—(बिन्दुरेव समाख्यातो ध्वनो नादात्मिकोऽपि।)
—देखिए, 'आगम ग्रंथ।'

४—स्फोटस्याभिन्न कालस्य ध्वनिकालानुपातिनः,
ग्रहणोपाधि भेदेन वृत्ति-भेदं प्रचक्षते।
स्वभाव भेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु,
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते। (वा० प० १, ३०-३१),

अनिरुक्ता। जिन ध्वनियों का निर्वचन, व्युत्पत्ति और अर्थ हो उन सभी ध्वनियों को निरुक्ता माना गया है। यह वाणी व्याकृता होती है जो एक विशेष नियम के अनुसार चलती है। अतः व्यापक रूप से सर्व मान्य है। काव्य-शास्त्रियों ने केवल निरुक्ता वाक् को ही ग्रहण किया है, उसी को नियमित, सयत, शिष्ट और प्रवाह-पूर्ण बनाने के लिए शैलीगत अन्य आवश्यक अंगो का गठन किया गया है।

शब्द की प्रकृति ही ध्वनि है। शब्द-संघटन के पूर्व वैयाकरणों ने 'स्फोटवाद'[१] की कल्पना की है। इसमे मुख्य रूप से वर्ण स्फोट, पदस्फोट और वाक्य स्फोट को प्रधानता मिली है। शब्द स्फोट और अर्थ स्फोट मे भी अन्तर है। वाक्य-स्फोट ही प्रधान रूप से अर्थ व्यक्त करने वाला माना गया है।

स्फोट और ध्वनि मे अन्तर है। ध्वनि, स्वर-तन्त्रियो मे व्यवधान पड़ जाने पर होती है किन्तु स्फोट स्वाभाविक रूप से हुआ करते हैं। स्पर्शव्यंजनो के बहिःस्फोटात्मक और अन्तःस्फोटात्मक दो भेद हैं। इसके आधार पर शब्दों के दो रूप हैं—ध्वन्यात्मक और व्याकरणात्मक शब्द, पद की उस अवस्था का बोध करता है, जब उसमे अर्थ का उद्‌बोध न हुआ हो। किन्तु सामान्य रूप से उसमे अर्थ निहित हो। यही कारण है कि शब्द को भावाधार माना गया है।[२] विभक्ति और उसकी उत्पत्ति, इन दोनो के मेल से जो शब्द बनता है, वह शास्त्रीय शब्द कहलाता है।[३] महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार प्रतीत पदार्थक ध्वनि ही शब्द है।[४] प्रसिद्ध विचारक 'स्वीट' के अनुसार आदिम भाषा

१—देखिए—भट्टोजि दीक्षित—शब्द कौस्तुभ—
स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः।

२—देखिए—भरतनाट्यशास्त्र—'भावाधारः शब्दः', शब्दार्थ योनित्वात्।'

३—चन्द्रालोककार जयदेव—'विभक्त्युत्पत्तये योगः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।'

४—[उद्योतः] 'भाष्ये अथवा प्रतीतपदार्थक इति।'
'लोके व्यवहृतेषु पदार्थ बोधकत्वेन प्रसिद्धः
श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यत्वाद्वर्णरूप ध्वनि समूह एव शब्द इत्यर्थः।'
—पृष्ठ १८
—पाणिनीय व्याकरण महाभाष्यम्—प्रथम खण्डम्

के शब्द अनुकरणात्मक, विस्मयादि बोधक और प्रतीकात्मक थे।[1] इतना तो निश्चय है कि भाषा में शब्द-योजना अव्याक्तानुकरण और भावाभिव्यंजन दोनों कारणों से होती है। कभी-कभी ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या की जाती है जिसे उपचार कहते हैं। ऐसे बने हुए शब्दों को औपचारिक शब्द[2] कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी शब्दों के चार भेद किए गए हैं। कुछ शब्द एकाक्षर धातु के समान होते हैं, कुछ शब्दों की रचना में प्रकृति और प्रत्यय का योग रहता है, कुछ बुद्धि-ग्राह्य होते है और कुछ समस्तपद होते हैं। इस प्रकार ये धातु-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान, विभक्ति-प्रधान और समस्तपद, अथवा वाक्य-शब्द के रूप मे व्यवहृत होते रहे हैं।

शब्द के शास्त्रीय रूप पर भी यदि विचार किया जाय तो उपरिलिखित साक्ष्य के अनुसार इसका क्रमिक विकास भी विदित हो जाता है। शब्द का धातु गत अर्थ—आविष्कार करना अथवा शब्द करना भी है।[3] लोक मे पदार्थ की प्रतीति करानेवाली ध्वनि ही शब्द है।[4] ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense of Meaning) दोनो के सयोग से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। अन्य अनेक वाचकों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का जो एक मात्र वाचक होता है, वही शब्द है।[5]

वर्ण और शब्द का उद्भव और विकास जान लेने के उपरान्त यह आवश्यक है कि उसके महत्व पर भी विचार किया जाय। संस्कृत साहित्य मे वर्ण-सघटनौचित्य और रसौचित्य आदि पर आचार्यों ने बहुत बल दिया है।[6] हिन्दी मे आए दिन इसकी नितान्त आवश्यकता है। सस्कृत-साहित्य मे तो एक

१—विशेष अध्ययन के लिए देखिए—
History of Hindi languages by Sweat from page 33 to 35.
And new English grammar on page 192.

२—देखिए भा० वि० डा० श्यामसुन्दर दास पृ० ३८।

३—शब्द आविष्कारे। शब्द शब्दकरणे।—देखिए, सिद्धान्त कौमुदी।

४—शब्दोऽक्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ। हैमः।

५—शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
—'वक्रोक्ति जीवित' (कुन्तक)

६—'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'
—औचित्य विचार चर्चा।

शब्द का भी शुद्ध प्रयोग जान लेने पर बहुत बड़े यश का भागी हो गया है। एक शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय और सुन्दर रूप से उसका प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक, दोनों में अभिमत फल का दाता है।[१] सम्यक् प्रयोग होने से कामधेनु के समान शब्द हमारे सर्वार्थ सिद्ध करता है और दुष्प्रयुक्त होने से प्रयोक्ता की ही मूर्खता प्रमाणित करता है।[२] अतएव शब्दों की अर्थ-द्योतन-सामर्थ्य से अपरिचित होने हम 'अज्ञ' तो नहीं 'अनभिज्ञ' अवश्य कहे जायँगे। शब्दों का शुद्ध और सुन्दर प्रयोग सीखने के लिए अन्तर्निहित अर्थ-बोध के तत्त्ववाद को समझना भी आवश्यक है।

भरत की 'आत्मग्लानि' और गोस्वामी तुलसीदास के 'दैन्य' भाव से तो सभी परिचित हैं। किन्तु 'ग्लानि और दैन्य' शब्दों का अर्थ-बोध क्या है? इसे भी जानना आवश्यक है। परिश्रम, दुःख, भूख, प्यास आदि के कारण उत्पन्न हुई विशेष निर्बलता का नाम ग्लानि है। इससे देह का काँपना, किसी काम में उत्साह न होना आदि प्रकट होता है।[३] 'दैन्य' मन की उस दशा का नाम है जो दुःख, दरिद्रता या किसी भारी अपराध करने के कारण उत्पन्न होती है और जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपनी हीनता, निकृष्टता या अकिंचित करता का कथन आदि करने लगता है। अपनी दुर्गति आदि के कारण जो ओजहीनता (अनोजस्य) है, वही वास्तविक रूप में 'दैन्य' भाव है।[४]

१—'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गलोकेच कामधुग्भवति'
—(महाभाष्य)

२—गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
—दण्डी (काव्यादर्श)

३—'रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा।
ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहतादिकृत।'
—श्री विश्वनाथ कविराज कृत साहित्यदर्पण,
पृष्ठ ३

४—'दुःखदारिद्र्याऽपराधजनितः स्वाऽपकर्षभाषणादि
हेतुश्चित्तवृत्ति विशेषो दैन्यम्।' दौर्गत्यादेर नौजस्य
दैन्य मलिनतादिकृत्।'
—वही, ...पृष्ठ ४।

अध्याय १०

शब्द-समूह (Vocabulary)

संसार की प्रत्येक भाषा की रूप-रचना में शब्द-भाण्डारों का मार्मिक महत्त्व है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से मिश्रित होती है। शब्दों के आदि विशुद्ध रूप में कोई भी भाषा शुद्ध नहीं हुआ करती।[1] हिन्दी भाषा में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं के शब्द-भाण्डार का संग्रह मौजूद है। संस्कृत वाङ्मय की सबसे बड़ी देन हिन्दी में उसकी रूप-संकीर्णता में है। हिन्दी के लगभग ८०% प्रतिशत शब्द ज्यों-के-त्यों संस्कृत से लिए गए हैं।[2] जितने भी पारिभाषिक शब्द (चाहे वे शास्त्र-ज्ञान के हों या दर्शन शास्त्र के) हिन्दी में प्रयुक्त हुए हैं, अधिकांश संस्कृत के आधार पर ग्रहण किये गए हैं। साधारणतया हिन्दी शब्द-समूह तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

क—भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द-समूह।

(१) तद्भव (२) तत्सम (३) देशज

ख—भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द।

ग—विदेशी भाषाओं के शब्द।

क—भारतीय आर्य-भाषाओं का शब्द-समूह

(१) तद्भव—हिन्दी शब्द-समूहों में तद्भव शब्द हिन्दी के अधिक सच्चे शब्द हैं। कुछ साहित्यिक हिन्दी में ऐसे शब्दों का प्रयोग वांछनीय नहीं समझते। ये शब्द-समूह बहुत भारी संख्या में हिन्दी में घुल-मिल गए हैं। प्राचीन आर्य भाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं में होते हुए इनका स्वाभाविक विकास हुआ है। इनमें से अधिकांश शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत से अवश्य जोड़ा जा सकता है। किन्तु सर्वत्र संस्कृत शब्द से संबंध निकल आना अनिवार्य नहीं है। हाँ, संस्कृत शब्दों के विकसित रूप उन्हें अवश्य माना जा सकता है।[3]

१—देखिए-हिन्दी भाषा का इतिहास-डा० धीरेन्द्र वर्मा

२—देखिए-हिन्दी भाषा का इतिहास डा० धीरेन्द्र वर्मा

३—(i) संस्कृत शब्दों के विकसित रूप जैसे, राजपूत, मक्खी, पान, गाय और गोरू आदि)

(ii) बच्चा (वत्स), राय (राजा), आग (अग्नि), कान (कर्ण) काज

प्रायः हो ...

रखता है।[४] किन्तु कभी-कभी ...

हो जाता है। इस प्रकार के प्रयोग भाषा

भाषाओं से आए हुए शब्द वे कहे जाते हैं जो ...

नहीं आ सके हैं। बहुत से बिगड़े हुए शब्द (तद्भव) भी ...

(कार्य), सूखा (शुष्क), सुई (सूची), बरस (वर्ष), रात (रात्रि), सब (सर्व), माथा (मस्तक), सिर (शीर्ष), नेवला (नकुल), भात (भक्त)

१—हिन्दी के शब्द, ठीक संस्कृत रूप में। (रेल, स्वर्ग, पाताल, नाग, मनुष्य, बालक आदि।)

२—तत्सम (कृष्ण), तद्भव (कान्ह), अर्द्धतत्सम (किशन)

३—जैसे बाप, टिकाऊ, चालू, गला, ढेला, दिल्ला आदि।

४—तत्सम् शब्द—बल, दल, बन, धन, जन, दूर, सूर, नदी, शांत, वर्षा, समुद्र, बसन्त, साधु, सन्त, दिन, शास्त्र, कवि, काम, क्रोध, दर्शन, मनुष्य।

५—देशज शब्द—पगड़ी, रोड़ा, पेट, झाड़-झंखाड़, गंडेरी, धूमधाम, ढोल, बड़ाई, टीला, ढोर, माल, खिड़की, गड़गड़ाहट, ठट, धड़ाम, चौपट।

गे । कोल, द्राविड़ या मुण्डा, तामिल, तेलगू और कन्नड़ आदि अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द हिन्दी में बहुत कम हैं । जो शब्द प्रयोग में आए भी हैं, वे प्राय दूर अर्थों में ।[1] हिन्दी के मूर्धन्य वर्णों से युक्त कुछ शब्दों पर द्राविड़ भाषा का प्रभाव अवश्य पड़ा है ।

विदेशी भाषाओं के शब्द

सैकड़ों वर्षों तक विदेशी शासन में रहने के कारण हिन्दी पर कुछ विदेशी प्रभाव अवश्य पड़ा है । यह दो रूपों में विशेष रूप से हिन्दी शब्द-भाण्डार को प्रभावित करता है—(१) मुसलमानी प्रभाव के रूप में, (२) यूरोपीय प्रभाव के रूप में । इसी आधार पर विदेशी शब्दों का श्रेणी विभाजन भी दो रूपों में किया गया है - (१) विदेशी संस्थाओं के आधार पर,[2] (२) विदेशी प्रभाव के कारण नई वस्तुओं का नामकरण[3] । हमारे देश में १२०० ई० से १८०० ई० तक तुर्क, अफगान और मुगलों का शासन था । यही कारण है कि अरबी तथा तुर्की आदि के शब्द फारसी से होकर हिन्दी में आये हैं । इसलामी साहित्य की भाषा फारसी और इसलामी धर्म की भाषा अरबी है । इस प्रकार हिन्दी के विदेशी शब्दों में फारसी शब्द अधिक मात्रा में व्यवहृत हुए हैं ।[4] इसके उपरान्त मुगल शासन-सूत्र यूरोपीयों के हाथ में चला गया । यही कारण है कि यूरोपीय भाषाओं के शब्दों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है । प्राचीन हिन्दी साहित्य में यूरोपीय भाषाओं के शब्दों का प्रभाव नहीं के बराबर है । हिन्दी शब्द-भाण्डार पर अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है ।[5] हिन्दी में कुछ पुर्तगाली

१—द्राविड़—(पिल्लइ=पुत्र), हिन्दी—(पिल्ला=कुत्ते का बच्चा) ।

२—कचहरी, फौज, स्कूल, धर्म ।

३—नए पहनावे, खाने-पीने का नाम, नए यंत्र खेल आदि की वस्तुओं के नाम ।

४—हिन्दी में प्रचलित तुर्की शब्द—सुरा, मशालची, खजांची, मालिक, आका, उजबक (मूर्ख), कलंगी, कैंची, क़ाबू, कुली, कोर्मा, खातून (स्त्री), खाँ, खानुम (स्त्री), गलीचा, चकमक (पत्थर), चाकू, चिक, तमग़ा, तगार, तुरुक, तोप, दरोगा, बख्शी, बावर्ची, बहादुर, बीबी, बेगम, बगचा, मुचलका, लाश, सौगात ।

शब्द[1] भी आ गए हैं; कुछ फ्रांसीसी[2] और कुछ डच शब्द[3]। किन्तु इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। संस्कृत भाषा हिन्दी के साथ पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, उड़िया और बंगला भाषाओं की मातृभाषा है। अतः इनके भी शब्द-समूहों का हिन्दी शब्द-भाण्डार पर प्रभाव पड़ा है।[4]

हिन्दी भाषा के अस्सी प्रतिशत शब्द ज्यों के त्यों संस्कृत भाषा से लिये गये हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य का सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य पर यह पड़ा है कि काव्य-शास्त्र और दर्शन के शब्द ज्यों के त्यों हिन्दी वाङ्मय में प्रयुक्त किये गये हैं। विदेशी शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुसार अभिनव रूप प्रदान कर प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार के शब्दों को प्रायः तीन रूपों में प्रयुक्त किया गया है—पहला यह कि कुछ शब्द ज्यों के त्यों हिन्दी में गृहीत हैं।[5] दूसरा यह कि कुछ को सुधार कर हिन्दी में ग्रहण किया गया है।[6] तीसरा यह कि, कुछ को हमने अपनी प्रकृति के अनुसार बदल लिया है।[7]

गिन्नी, गैस, गौन, घासलेटी, चाक, चिमनी, चिक, चुरट, चेरमैन, चैन, डिगरी, डिमारिज, वक्सीनेटर, थर्मामिटर, दर्जन, पलस्तर, पतलून, रबड़, रसोद, लंकलाट, लालटेन, सम्मन, सर्जन, सार्टिफिकट, साइस, सिगरेट, सिगल, सिलेट, सेशन, जज इत्यादि।

१—अनन्नास, अलमारी, अचार, कमीज, कप्तान, कमरा, गमला, गारद, गिर्जा, गोभी, तंबाकू, तौलिया, परात, पादरी, पिस्तौल, फीता, बाल्टी, बिस्कुट, बोतल, मस्तूल, मिस्त्री, मेज, लबादा इत्यादि।

२—फ्रांसीसी, कार्तूस, कूपन, अंग्रेज।

३—डच, तुरुप, बम।

४—मराठी—प्रगति, लागू, बाजू, (तरफ) आदि।

बंगला—उपन्यास, प्राण पण, ढोंगी आदि।

टिप्पणी—विशेष विवरण के लिए देखिए—'हिन्दी भाषा का इतिहास डा० धीरेन्द्र वर्मा कृत, पृष्ठ ७२, ७३, ७४ कविता-कौमुदी पहला भाग, स० प० रामनरेश त्रिपाठी, १६४६ पृष्ठ ३६, ४०, ४१।

५—लालटेन

६—सरीखता [रावरी पिनाक में सरीखता कहाँ रही—तुलसी] गिरस्त

७—कागजो (कागजात नहीं), हाकिमों हाकिमान या हुक्काम नहीं) बरमक (बदौर में) 'ज्यो तिल माँही तेल है, ज्यों चरमक में आग।'

इस क्षेत्र में खुसरो, जायसी, कबीर, रहीम और रसखान कवि विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ शब्दों को व्याकरण के अनुसार भी बदला गया है। इस प्रकार के अधिकांश शब्द-समूह प्रायः हिन्दी के अधिकांश कवियों और लेखकों द्वारा व्यवहार में लाए गए हैं। इस प्रकार हिन्दी के शब्द भाण्डार पर व्यापक रूप से संस्कृत-शब्द-भाण्डार का और गौण रूप से अन्य भाषाओं के शब्द-भाण्डार का भी यत्किञ्चित प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के रूप-निर्माण और शिल्प-विधान में संस्कृत भाषा और साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। संस्कृत के आधार पर फारसी शब्दों से बहुत-सी क्रियायें भी हिन्दी के ढंग पर बन गई हैं।[१]

शरम से शरमाना
कबूल से कबूलना
मुनकिर से मुकरना

हिन्दी व्याकरण के अनुसार बहुवचन—

मेवा	मेवों	मेवाजात (नहीं)
निशान	निशानों	निशानात ॥
औरत	औरतों	मस्तूरात ॥
मज़दूर	मज़दूरों	मज़दूरान ॥
दफा	दफाओं	दफात ॥
मुश्किल	मुश्किलों	मुश्किलात ॥

अध्याय २०

शब्द-शक्ति-विवेचन

काव्य में शब्द-शक्तियों का प्रयोग सदा से होता आया है। इनके सामान्यतया तीन भेदों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से साहित्य का साधारण विद्यार्थी भी परिचित होता है। किन्तु काव्य-शास्त्र में इनका सुचिंतित और सुविचारित स्वरूप निर्धारित किया गया है। अतः इनके शास्त्रीय-स्वरूप से परिचित हो जाना नितान्त आवश्यक है। लोक-प्रचलित व्यवहार से, प्रसिद्ध शब्दों के साहचर्य से, आप्त वाक्य से, व्याकरण से और उपमान-प्रयोग से संकेत-ग्रहण होता है। कोषगत अर्थ, वाक्य-शेष और विवरण से भी संकेत-ग्रहण होता है। ऐसी स्थिति में संकेत-ग्रहण से 'वाचक' शब्द चार प्रकार के माने गए हैं —[१]

(१) जाति वाचक,[२] (२) गुणवाचक,[३] (३) क्रियावाचक[४] और (४) यदृच्छा[५], या द्रव्य वाचक। ये जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा पदार्थों के धर्म विशेष हैं। इन्हीं में उक्त जात्यादि शब्दों के संकेत का ज्ञान होता है। अतः ये जातियाँ ही शब्दों की प्रवृत्ति के निमित्त होती हैं। वाचक शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। इसी को मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं। नैयायिक उक्त चारों प्रकारों की 'जाति' को ही एक मात्र वाच्यार्थ मानते हैं।

'अभिधा' शक्ति

'साक्षात् संकेतित अर्थ (मुख्यार्थ) का बोध कराने वाली मुख्य क्रिया

१—(1) 'संकेतो गृह्यते जातौ गुण द्रव्य क्रिया सुच।' सा० द०,
२८ [illegible]
[illegible] चतुर्भेदो जात्यादिर्जाति देवना।
(का० प्र०), सूत्र १०, पृष्ठ १८

[illegible] अश्व, मनुष्य आदि।

३ नीलो, सफेद आदि।

४ [illegible] आदि।

[illegible] धर्म दत्त, राम, भरत आदि।

(व्यापार) को अभिधा कहते हैं।[१] अर्थात् शब्दों के निर्दिष्ट रूप के अनुसार जो अर्थ प्रकट होता है उस निर्दिष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली शक्ति 'अभिधा' कहलाती है। इस शक्ति का उपयोग काव्य में उत्तम माना गया है।[२] यह ईश्वर से उद्भावित शक्ति मानी जाती है। इस शक्ति द्वारा जिन शब्दों के अर्थ का बोध होता है वे तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़।

(१) रूढ़ शब्द—जिस समुदाय शक्ति द्वारा समूचे शब्दों का अर्थ बोध होता है। इन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं होती है।[३] इनमें प्रकृति प्रत्ययार्थ की भी अपेक्षा नहीं रहती है।[४] समूचे शब्द के प्रयोग की किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्धि होती है। 'गउ', 'घड़ा', 'घोड़ा', आदि शब्द रूढ़ हैं।

(२) यौगिक शब्द—'अवयवों (प्रकृति और प्रत्ययों) की शक्ति द्वारा जिन शब्दों का अर्थ बोध होता है वे यौगिक शब्द होते हैं। जैसे 'सुरेश' इस शब्द मे 'सुर' और 'ईश' दो खण्ड हैं। इन दोनों खण्डो का अर्थ है—'देवताओं का स्वामी' अर्थात् इन्द्र। 'नृप, दिवाकर, सुधांशु आदि शब्द भी यौगिक हैं।

(३) योग रूढ़—कुछ शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होते हैं। अपनी रूढ़ि या प्रसिद्धि के कारण उनका विशेष अर्थ हो जाता है। जैसे, पानी से बहुत चीजें उत्पन्न होती हैं—शख, सीपी, सिघाड़ा आदि। किन्तु 'वारिज' से कमल का ही अर्थ स्पष्ट माना गया है।[५]

विभक्ति और उसकी उत्पत्ति, इन दोनों के मेल से जो शब्द बनता है

१—देखिए, काला कल्पद्रुम, पंचम संस्करण, पृ० ५५

२—'अभिधा उत्तम काव्य है।'

३—'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दाः रूढा आखण्डलादयः।' [आखण्डल = इन्द्र]

४—'प्रकृति प्रत्ययार्थ मन पेक्ष्य शब्द बोध जनकः शब्दः रूढः'—शब्द कल्पद्रुम

५—इसी प्रकार पयोद (पयः + द) पानी देने वाले (बादल), (किन्हीं तीन फलों का मिश्रण नहीं) अपितु हर्रे, त्रिफला, बहेरा, आँवला।

वह शास्त्रीय शब्द कहलाता है ।[१] इनके भेदों और उपविभेदों को 'चार्ट' से समझा जा सकता है :—

शब्द
- रूढ़
- यौगिक
- योग रूढ़

रूढ़
- अव्यक्तयोग (जिसमें विभक्ति, उत्पत्ति छिपी हो) — वृक्ष
- निर्योग (जिसमें विभक्ति-उत्पत्ति न हो) — भू
- योगाभास (जिसमें विभक्ति उत्पत्ति दोनों की छाया हो—मडप)

यौगिक
- शुद्ध यौगिक — भ्रान्ति
- यौगिक मूल — स्फुरत्कान्ति
- सभिन्न यौगिक — कौन्तेय

योग रूढ़
- सामान्य — नीरधि
- विशेष — पकज, पयोद
- मिश्र — सागर, भूधर

इसके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने 'कूट' शब्द भी माना है जो सांकेतिक[२] या बुध्वनि व्यंजक[३] और वाक्य बोधक[४] होता है ।
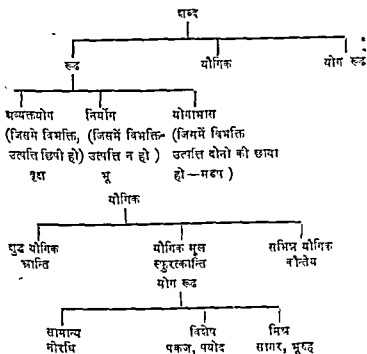
लक्षणाशक्ति :—

जहाँ पर शब्द के द्वारा मुख्य अर्थ की उपपत्ति (सिद्धि) न हो; परन्तु उससे सम्बन्ध बना रहे, अथवा किसी विशेष अर्थ के बोध के लिए शब्द रूढ़ या प्रसिद्ध हो गया हो, या किसी विशेष प्रयोजन के कारण शब्द अपने मुख्यार्थ को

१—चन्द्रालोककार जयदेव—

विभक्त्युत्पत्त ये योगः शास्त्रीयः शब्द इष्यते ।
रूढ़ योगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥

२—नारायण, वासुदेव ३—हप्पु लेना ४—आओ, जाओ या आदि ।

छोड किसी अपने अन्य अर्थ को लक्षित करता हो तो उस अर्थ-प्रतीति के व्यापार का नाम लक्षणा है।[१] वाक्य मे मुख्यार्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर रूढि के कारण अथवा किसी प्रयोजन-विशेष के सूचक होने पर मुख्यार्थ से संबद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान भी लक्षणाशक्ति द्वारा होता है।[२] लक्षणा अर्थ-निष्ठ होती है, शब्द निष्ठ नही। शब्द मे उसका आरोप करना पड़ता है। यह शक्ति कल्पित मानी गई है। 'लक्षणा वही होती है जहाँ लाक्षणिक शब्द का प्रयोग होता है।[३]

लाक्षणिक शब्द और लक्ष्यार्थ :—जो शब्द लक्षणाशक्ति द्वारा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ को लक्षित करता है उसे लाक्षणिक शब्द कहते हैं। लाक्षणिक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। लक्ष्यार्थ का बोध तत्काल नही होता, लक्षणा तभी होती है जब (१) मुख्यार्थ का बोध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से योग (सम्बन्ध) और (३) रूढि अथवा प्रयोजन—ये तीन कारण होते हैं।[४]

अन्तिम कारण के आधार पर लक्षणा दो भेदो में विभक्त है—'रूढि' और 'प्रयोजनवती।'

'रूढि' लक्षणा—

'जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढि के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढि लक्षणा होती है।[५]

जैसे—'महाराष्ट्र साहसी है।'

प्रयोजनवती लक्षणा—

'जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए—किसी मुख्य अभिप्राय से लाक्ष-

---

१—मुख्यार्थं बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो तदयते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥
का० प्र०, द्वितीय उल्लास १२।०। पृ० १८

२—मुख्यार्थं बाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥
सा० द०—४०।२।५

३—देखिए—काव्य कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पचम संस्करण, पृष्ठ ५७

४—'मानान्तर विरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।'—वार्तिकार कुमारिल।

५—देखिए—का० क०, प्रथम भाग, पचम सं०, पृष्ठ ५६

किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है।'

जैसे—१—गङ्गा पर घोष' है।

२—कौओं से दही की रक्षा करो।

प्रयोजनवती लक्षणा के निम्नलिखित भेद हैं :—

प्रयोजनवती लक्षणा

- गौणी (मुख चन्द्र)
  - (१) सारोपा
  - (२) साध्यवसाना
- शुद्धा
  - (१) उपादान ल०
  - (२) लक्षण लक्षणा
    - (३) सारोपा
    - (४) साध्यवसाना

इस तालिका में गौणी के दो और शुद्धा के चार भेद, अर्थात् सब छः भेद बतलाए गए हैं। ये छहों भेद गूढ़व्यंग्य में भी होते हैं और अगूढ़ व्यंग्य में भी। इस प्रकार काव्य प्रकाश के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के १२ भेद होते हैं।

गौणी लक्षणा
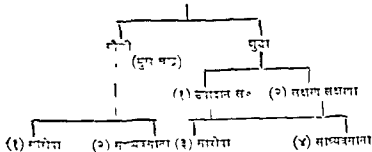
'जहाँ सादृश्य-सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ गौणी लक्षणा होती है।[2] सादृश्य-सम्बन्ध से गुणों की समानता, अर्थात् आह्लादकता, जड़ता आदि लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।' इस लक्षण का मूल 'उपचार' है। अत्यन्त पृथक् पृथक् रूप से भिन्न भिन्न प्रतीत होने वाले दो पदार्थों में सादृश्य के के अतिशय से—अत्यन्त समानता होने के प्रभाव से—भेद की प्रतीति न होने को 'उपचार'[3] कहते हैं।

जैसे—मुखचन्द्र, आह्लादक गुण चन्द्रमा और मुख दोनों में समान है।

१—गङ्गायां घोषः

'एक पदेन तदार्थान्यपदार्थं कथनम् उपलक्षणम्।'

२—'गुणतः सादृश्यमस्या प्रवृत्तिनिमित्तम्' एकावली की तरल टीका, पृष्ठ ६८।

३—'अत्यन्त विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्योतिशयमहिम्ना भेद प्रतीति स्थगनमुपचारः'—साहित्य दर्पण परि० २।

शुद्धा लक्षणा

'सादृश्य—सम्बन्ध के बिना जहाँ लक्ष्यार्थ ग्रहण कि
लक्षणा होती है ।' समानता रूप सम्बन्ध को छोड़कर किसी
शक्ति जानी जाती है ।

(१) सामीप्य सम्बन्ध से[1] (२) तादृश्य सम्बन्ध,
संबंध से, और (४) तात्कर्म्य[4] सम्बन्ध से यह शक्ति जानी

उपादान लक्षणा

'उपादान' का अर्थ है 'लेना' । इसमें मुख्यार्थ
हुआ, दूसरे अर्थ को खींच कर ले लेता है । इसीलिए इसे
कहते हैं जिसका अर्थ है—'नहीं छोड़ा है अपना अर्थ जिस
का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ

जैसे—वहाँ गोली चल रही थी । ये भाले आ रहे हैं

कौए से दही की रक्षा करो । यहाँ 'कौआ' शब्द 'उ
एक पद के कहने से उसी अर्थ वाले अन्य पदार्थों का कथन
उसे 'उपलक्षण' कहते हैं ।

लक्षण-लक्षणा

'जहाँ मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जात
स्वार्था' भी कहते हैं जिसका अर्थ है—'छोड़ दिया है अपना

जैसे—वह प्रयाग पर रहता है ।

सरोपा लक्षणा

आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप (विषय) दोनों
द्वारा कथन किया जाय । इसमें विषयी के साथ विषय की ता
होती है ।

१—'गंगा पर घर' २—स्थानापन्नध्वजादि में 'स
माना जाता है ।

३—'हाथ से गूँथी हुई माला'—हाथ अंगी है, उँगलि

४—किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले को क
पुरुष—ब्राह्मण, बढ़ई का काम करता है तो वह 'बढ़ई' कहा ज

'सादृश्येतर संबंधाः शुद्धास्ताः सकला अपि ।' सा० द०,

गूढ़ व्यंग्या लक्षणा —

जिसमें व्यंग्यार्थ गूढ़ होता है जिसे काव्य-मर्मज्ञ ही समझ पाते हैं।[1]

अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा —

जहाँ का व्यंग्य स्पष्ट हो या समझा जा सके।[2]

उपर्युक्त विवेचन 'काव्य प्रकाश' के अनुसार किया गया है साहित्य दर्पण के अनुसार विश्वनाथ ने गौणी और शुद्धा के चार-चार भेद, और इन आठों के रूढ़ और प्रयोजन भेद से १६ भेद किए ये सोलह भी पद और वाक्यगत से ३२, और ये भी यहीं धर्मगत और धर्मिगत भेद से ६४ हो गए हैं। रूढ़ि लक्षणा के भी विश्वनाथ ने ९० भेद किए हैं जो विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

व्यञ्जना शक्ति

आचार्यों ने व्यञ्जना की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जहाँ अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ अर्थ न कर पावें और उनके अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति से अर्थ का बोध हो, उस शक्ति को व्यञ्जना कहते हैं। 'अपना-अपना अर्थ

१—जैसे—मुख मे विकस्यो मुसकान वसीकृत बंकता चाह विलोकन हैं।
गति मे उघलैं बहु विभ्रम त्यों मति मे मरजादहु लोपन हैं।
मुकुलीकृत है स्तन, उदर त्यों जघनस्थल चित्त प्रलोभन हैं।
इहि चंदमुखी तन मे ह्वै उदै हुलसाय रह्यो नव जोबन हैं॥

२—जैसे—प्रिय परिचय सो मूढहु, जानहिं चतुर चरित्र।
जोबन-मद तरुनिन ललित सिखवत हाव विचित्र॥

व्यक्त कर अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध होता है, वह शब्द तथा अर्थादिक में रहने वाली शक्ति 'व्यंजना' कही जाती है।[1] 'जहाँ' 'अभिधा', अपना काम करके चुप हो जाय, लक्षणा अपना अर्थ सिद्ध करके विरत हो जाय, वहाँ दोनों शक्तियों के क्षीण हो जाने पर शब्द जिस शक्ति से किसी दूसरे अर्थ को सूचित करता है उसे व्यंजना कहते हैं।[2]

व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्यार्थ :—

व्यञ्जना से जिसका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत हो उसे 'व्यञ्जक' कहते हैं। व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यङ्ग्यार्थ, ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ और प्रतीय मानार्थ आदि भी कहते हैं।

अभिधा और लक्षणा का व्यापार केवल शब्दों में ही होता है, किन्तु व्यंजना का व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में होता है। इस प्रकार व्यञ्जना के दो भेद हुए। नीचे लिखी तालिका के अनुसार उसके भेद इस प्रकार हैं :

ये दसों आर्थी व्यजनाएँ प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की होती हैं। वाच्य संभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यग्य समवा—इस प्रकार कुल ३० भेद होते हैं।

१—'विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥
सा० द० ५६|२|१२

२—देखिए—भाषा वि०—डा० श्यामसुन्दर दास कृत, पृष्ठ २७२।

अभिधामूला-शाब्दी व्यञ्जना—अनेक अर्थ वा
आदि द्वारा जब एक अर्थ निश्चित हो जाता है और उससे व्यं
होती है तब वहाँ अभिधामूला व्यंजना होती है। अभिधा की शक्ति
पर ही यह शक्ति उपस्थित होती है। अतः इसे अभिधामूला व्यंजना कहा
है। संयोगादि से नियन्त्रित होने के चौदह कारण होते हैं। वे ही
उपभेद हैं।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना (१४)

[1]संयोग	वियोग	साहचर्य	विरोध	अर्थ	प्रकरण	लिंग
अन्यम निधि	सामर्थ्य	औचित्य	देश	काल	व्यक्ति	स्वर

(१) संयोग—शंख-चक्र-सहित हरि (इन्द्र-विष्णु-सिंह-वानर-सूर्य और चन्द्रमा)

(२) वियोग—शंख चक्र-रहित हरि

(३) साहचर्य्य—राम-लक्ष्मण। (राम = श्रीराम, बलराम) (लक्ष्मण = दशरथ-पुत्र, सारस पक्षी, दुर्योधन का पुत्र)।

(४) विरोध—'राम-रावण'

(५) अर्थ—'भव-खेद-छेदन के लिए क्यों स्थाणु को भजते नहीं।' स्थाणु—(१) शिव (२) ठूंठ

(६) प्रकरणया प्रसंग—"सैंधव लाओ।" (नमक, घोड़ा)

(७) लिङ्ग—'विशेषता सूचक चिह्न'—
'कुपित मकरध्वज हुआ, मर्यादा सब जाती रही।' मकर ध्वज = कामदेव, सिंधु—यहाँ कामदेव से ही तात्पर्य है।

(८) अन्य सन्निधि—'करसो सोहत नाग।' (हाथी की सूँड)

१—संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यं मौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

का० प्र० द्वि० उल्लास, पृष्ठ ३५

व्यक्त कर अभिधा आदिक वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध होता है, वह शब्द तथा अर्थादिक में रहने वाली शक्ति 'व्यंजना' कही जाती है।'[1] 'जहाँ' 'अभिधा, अपना काम करके चुप हो जाय, लक्षणा अपना अर्थ सिद्ध करके विरत हो जाय, वहाँ दोनों शक्तियों के क्षीण हो जाने पर शब्द जिस शक्ति से किसी दूसरे अर्थ को सूचित करता है उसे व्यजना कहते हैं।[2]

व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्यार्थ :—

व्यञ्जना से जिसका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत हो उसे 'व्यञ्जक' कहते हैं। व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यङ्ग्यार्थ, ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ और प्रतीप मानार्थ आदि भी कहते हैं।

अभिधा और लक्षणा का व्यापार केवल शब्दों में ही होता है, किन्तु व्यंजना का व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में होता है। इस प्रकार व्यञ्जना के दो भेद हुए। नीचे लिखी तालिका के अनुसार उसके भेद इस प्रकार हैं :
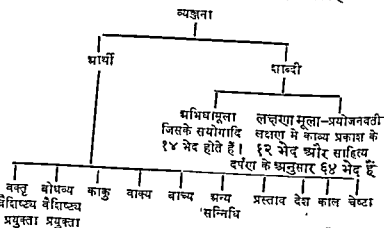
ये दशों आर्थी व्यजनाएँ प्रत्येक तीन-तीन प्रकार [...]वा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्य संभवा—इस प्रकार

१—'विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो [...]
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्या[...]

२—देखिए—भाषा वि०—डा० .

(९) सामर्थ्य—मधुमत्त कोकिल। (मधु=वसन्त, मदिरा, मकरन्द, एक दैत्य) किन्तु यहां वसन्त ऋतु से तात्पर्य है।

(१०) औचित्य—

"रे मन, सबसों निरस ह्वै सरस राम सों होहि।
इहै सिखावन देत है, तुलसी निसि-दिन तोहि॥

निरस=(१) न्यून (२) रस-हीन। सरस-(१) अधिक (२) रस युक्त यहाँ औचित्य से 'राम के विषय में सरस और जगत् से रस-हीन रहना' औचित्य से बोध होता है।

(११) देश—'ज्यों विहरत घनश्याम नभ, त्यों विहरत ब्रज राम।' देश-वाचक की समीपता से यहाँ घनश्याम=मेघ और राम=बलराम ही हैं।

(१२) काल—चित्रभानु निसि में लसत। यहाँ 'अग्नि' से ही अर्थ है, सूर्य से नहीं।

(१३) व्यक्ति—'पति=स्वामी, लज्जा के होता है।

(१४) स्वर—आचार्यों का मत है कि स्वर का वेदो मे ही प्रयोग होता है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—लक्षण मे प्रयोजना अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ छिपा रहता है उसकी प्रतीति न तो अभिधा और न लक्षणा से ही होती है। केवल लक्षणामूला व्यंजना, द्वारा ही वह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत है।[1]

आर्थी व्यञ्जना[2]

(१) वक्तृ वैशिष्ट्य प्रयुक्ता आर्थी व्यंञ्जना—वाक्य के कहने वाले को वक्तृ (वक्ता) कहते हैं। वक्ता की उक्ति की विशेषता से जहाँ व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है उसे वक्तृ वैशिष्ट्य कहते हैं। वक्ता की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यंजकता इससे सिद्ध होती है।

१—यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।
नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा॥
(काव्य-प्रकाश, २।१४-१५)

२—वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्य सन्निधेः॥
का० प्र० तृतीय उल्लास, पृ० ४०
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्। वही, पृष्ठ ४०
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

(१०) चेष्टा वैशिष्ट्य—चेष्टा द्वारा जहाँ व्यंग्यार्थ सूझे

उदाहरण—हाथ पहरि पट उठि कियो बँदी मिस

दृग चलाय घर को चलो, विदा किए घनश्याम।

उपर्युक्त वक्तृ आदि वैशिष्ट्यों द्वारा होने वाली व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है—

वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा, व्यंग्यसंभवा।

वाच्य संभवा व्यंजना—इसमें वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का व्यंजक होता है।

उदाहरण—(किसी सिनेमा देखने वाले लड़के से)—

अब सन्ध्या हो गई।

लक्ष्यसंभवा व्यंजना—जो व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है वह लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना कहलाती है।

उदाहरण—(किसी अयोग्य शिक्षक से) अब लड़का बहुत अधिक सुधर गया है।

व्यंग्यसम्भवा व्यञ्जना—एक व्यंग्यार्थ जहाँ दूसरे व्यंग्यार्थ का व्यंजक है। वहाँ व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है।

उदाहरण—(आधी रात के समय भागने वाला एक कैदी दूसरे कैदी से)

—देखो, रजनी-गंधा की कलियाँ खिल उठी हैं!

आचार्य मम्मट ने तात्पर्याख्या वृत्ति[1] को एक चौथी शक्ति माना है जो वाक्य[2] के भिन्न-भिन्न पदों[3] के अर्थों का सम्बन्ध समझावे। किन्तु यह सर्वमान्य नहीं है। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने व्यञ्जना के प्रकरण में ध्वनि और रस का प्रतिपादन नहीं किया है। इन्हें स्वतन्त्र रूप से 'साहित्य-शास्त्र' में गृहीत किया गया है। अतः इनका विवेचन अगले अध्यायों में किया जायगा।

१—तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे॥

—सा० द०–६४|२|२०

२—जो योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त होता है।
वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्ति युक्तः पदोच्चयः।

—सा० द० पृ० ३४, द्वितीय परिच्छेद।

३—'पद' आकांक्षा-रहित होता है जो प्रयोग करने के योग्य, दूसरे पद के अर्थ से असंबद्ध, एक और अर्थ बोधक होता है।—का० द० पृष्ठ १०३।
'सुप्तिङन्तं पदम्' सुबन्त और तिङन्त शब्द को पद कहते हैं।

उदाहरण—उद्देशोऽयं सरसकदली श्रेणिशोभातिशाया,
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरित रमणी विभ्रमो नर्मदायाः।
किं चैतस्मिन्सुरत सुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः,
येषामग्रे सरति कलिताकाण्ड कोपो मनो भूः।

(६) अन्य सन्निधि—दूसरे के नैकट्य की विशेषता से वाच्य की व्यंजकता जिससे सिद्ध हो।

उदाहरण—नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मा गृहभरे सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्याया भवति न वा भवति विश्रामः ॥[1]

(७) प्रकरण-वैशिष्ट्य—प्रकरण की विशेषता से वाच्यार्थ की व्यंजकता जहाँ प्रकट हो।

उदाहरण—श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम् ॥[2]

(८) देश-वैशिष्ट्य—जहाँ स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित हो।

उदाहरण—चित्रकूट-गिरि है वही, जहँ सिय-लछमन साथ।
मंदाकिनी सरित निकट, बास कियो रघुनाथ ॥[3]

(६) काल वैशिष्ट्य—समय की विशेषता के कारण व्यङ्ग्यार्थ का सूचित होना जिससे प्रकट हो।

उदाहरण—गुरुजन परवरा प्रिय ! किंभणादि तुह मंद भायणी अहकम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोस्यसि करणीयम् ॥[4]

१—सौंप्यौ सब गृह-काल मोहिं, अहो निर्दयी सास !
साँझ समय मे छिनक अलि, मिलत कबहुँ अवकास ॥
—का० क० पृष्ठ ६७।

२—सुनियत आवतु है सखी, तेरो पिय अब आज।
बैठी क्यूँ तू चुप अरी, वेगहि मंगल साज ॥
—का० क०, पृष्ठ ६७।

३—अन्यत्र भूपं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरे भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥

४—गुरजन पर बस तुम पिया ! गमन करत मधुकाल ;
हतभागिनि हौं, का कहौं, सुनि हो सब मो हाल।

यथा, सब हो गुन सोभा लहहिं, सहृदय जबहि सराहिं
कमल कमल है तबहि जब, रविकर सो विकसाहि ॥

'कमल' का वाच्यार्थ 'सौरभ और सौन्दर्य युक्त विकसित कमल, है। अतः इसमें पदगत अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि है। निम्नलिखित पद्य में वाक्यगत-अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि धर्म, नित्य और अनित्य होते हैं। नित्य, मे गुण या रीति सप्रदाय हैं जिसके प्रतिपादक आचार्य दण्डी और वामन हैं। अनित्य मे अलंकारो का समावेश है जिसके आचार्य भामह, रुद्रट और उद्भट हैं। व्यापार के अनुसार वक्रोक्ति और भोजकत्व भेद किए गए हैं। जिसके प्रतिपादक क्रमशः आचार्य कुन्तक और भट्ट नायक हैं। भट्ट नायक का भोजकत्व भरत मुनि के 'रसमता मे अन्तर्युक्त हो गया है। व्यंग्यगत मे ध्वनि वाक्य समाविष्ट हैं। ध्वनि-सम्प्रदाय वाले तीन प्रकार का काव्य मानते हैं।

काव्य-भेद—

(१) ध्वनि-काव्य—जिसमे वाच्य या प्रत्यक्ष अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण प्रतीत होता है।

(२) गुणीभूत-व्यंग्य—जिसमें व्यग्य-अर्थ होते हुए भी वह वाच्यार्थ से कम चमत्कारपूर्ण हो।

(३) चित्र-काव्य—जिसमे शब्दगत और अर्थगत अलंकारों का चमत्कार दिखाया जाय।

ध्वनि-सप्रदाय वाले आचार्य गुण को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं, अलकारो को अनित्य। ध्वनियो के वर्गीकरण भी तीन रूपो मे किए गए हैं—१—रस ध्वनि, २—अलकार ध्वनि, ३—वस्तु ध्वनि। इन तीनो मे रस-ध्वनि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। वस्तु ध्वनि से केवल यथार्थ बात भर का अर्थ प्रतीत होता है। अलकार-ध्वनि मे व्यक्त किया हुआ शब्दार्थ काल्पनिक होता है। किन्तु ध्वनि-मार्गीय आचार्यों ने रस को भी वाच्य परक नहीं माना है। वे रस को व्यग्यपरक ही मानते हैं। वैयाकरण काव्य-शास्त्र मे वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण व्यग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं। 'वाच्यातिशायिनि व्यग्ये ध्वनिः।' (ध्वन्यालोक) जहाँ वाच्यार्थ मे अधिक चमत्कार होता है वहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता और जहाँ व्यग्यार्थ मे अधिक चमत्कार होता है वहाँ व्यग्यार्थ की प्रधानता मानी जाती है। 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धनाहि वाच्य व्यग्ययोः प्राधान्य-विवक्षा—ध्वन्यालोक।' वाच्यार्थ शब्द द्वारा व्यक्त होता है, व्यग्यार्थ शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता—व्यग्यार्थ की तो ध्वनि ही निकलती है। 'यही कारण है कि ध्वनि और ध्वनि-काव्य को लेकर व्याकरण, काव्य और शास्त्र

अध्याय २१

ध्वनि-विवेचन

साहित्य-शास्त्र की इन ध्वनियों से काव्य का स्वरूप जाना जाता है। कि भाषा शास्त्र में भी ध्वनि विज्ञान अत्यन्त महत्व का है। प्रो० डेनियल जोंस के अनुसार "ध्वनि मनुष्य के विकल्प-परिहीन निश्चित स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द लहरी है।"[1] किन्तु काव्य शास्त्रीय लक्षण के अनुसार ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) लक्षणा-मूला, (२) अभिधामूला। लक्षणामूला ध्वनि को अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं। अविवक्षितवाच्य का अर्थ है—वाच्यार्थ की विवक्षा का नहीं रहना—वाच्यार्थ का अनुपयुक्त होना।[2] लक्षणा की भांति इसमें वाच्यार्थ का बाध होता है, वह उपयोग में नहीं लाया जाता। इसमें प्रयोजनवती गूढ़व्यंग्या लक्षणा रहती है, न कि रूढ़ि लक्षणा। रूढ़िलक्षणा में व्यंग्यार्थ नहीं होता और ध्वनि तो व्यंग्यार्थ रूप ही है। लक्षणा के मुख्य दो भेदों (उपादानलक्षणा और लक्षण लक्षणा, के अनुसार लक्षण-मूला ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—

(१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि।

(१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि—इसके मूल में उपादान लक्षणा होती है। इसमें वाच्यार्थ के बाधित[3] अर्थात् अनुपयुक्त होने पर वह अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है। अर्थान्तर का व्यंग्यार्थ उपादान लक्षणा का प्रयोजन होता है।[4] यह ध्वनि पदगत भी होती है और वाक्यगत भी।

१—देखिए भा० भा० विज्ञान—बाबूराम सक्सेना कृत-पृष्ठ ४६

२—देखिए—का० कल्प०—कन्हैयालाल पोद्दार कृत-पृष्ठ ,

३—वाच्यार्थ दो प्रकार से बाधित होता है (१) जु

किसी विशेष अर्थ को न बतलाता हो।

४—त्वामस्मि 'वच्मि' विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहितत्

यहां 'वच्मि' का अर्थ कहना नहीं, किन्तु कुछ

करना।

अनुपयुक्त है। किन्तु 'मधुर मधुरिम' के अर्थ में यह गृहीत है। यह ध्वनि सारे शब्द में निकलती है।

पदगत का उदाहरण—

> लगि मुख के निरखत [illegible] भये [illegible] मन
> लगत न चन्द्र-प्रकाश [illegible] कुहरे की [illegible] ॥

यहाँ 'चन्द्र का अर्थ नेत्रहीन नहीं, अपितु 'प्रकाश-हीन' अर्थ लिया गया है। अतः 'चन्द्र, में पदगत' ध्वनि है।'

स्फोट, ध्वनि कहते है।[१]

ध्वनि और स्फोट शब्द के उच्चारण के पूर्व ही उसकी ध्वनि सुनाई पड़ती है। स्फोट और ध्वनि का व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। भर्तृहरि ने प्राकृत ध्वनियों में ही स्फोट-ज्ञान माना है।[२] वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भी ध्वनि को सार्थक कहा है।[३] वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म को ही अव्यक्त ब्रह्म माना है।[४] व्याकरण में ध्वनि केवल उस शब्द को कहते हैं जिससे अर्थ अभिव्यक्त हो। किन्तु साहित्यशास्त्र में अर्थ के अभिव्यंजक शब्द और अर्थ दोनों के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

यह लक्षणा मूलक ध्वनि का निरूपण हुआ। अब अभिधामूलक ध्वनि का विवेचन किया जाता है।'

अभिधा मूला ध्वनि :—

'जिस ध्वनि में वाच्यार्थ अन्वय के उपयुक्त अर्थ का बोध कराकर व्यंग्यार्थ का सहायक हो जाता है उस उत्तम काव्य के भेद को 'विवक्षितान्यपर वाच्य' के नाम से अभिहित किया जाता है।[५] अर्थात् वाच्यार्थ वाञ्छनीय है किन्तु अन्य परक (व्यंग्यार्थ) का सहायक हो।

१—देखिए शब्द कौस्तुभ-भट्टोजी दीक्षित कृत—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट: '

२—स्फोटस्य ग्रहणे हेतु:प्राकृत ध्वनिरिष्यते ।

३—प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणै स्तथा ।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपम वधार्यते ॥

४—अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यद क्षरम् ।
विवर्त तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

५—'विवक्षित चान्यपरं वाच्य यत्रापरस्तु सः ।'—का० पृ०-पृ० ४३। ४।४०

की परिधि में इसका विस्तृत विवेचन हुआ है। नवमशती में ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्यात्मा घोषित किया और उन्होंने साहित्य शास्त्र को एक नया मोड़ दिया। इस सम्प्रदाय की टक्कर में यही मान्यता आज तक टिकी हुई है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ से काव्य की उत्पत्ति हुई जिनके तीन आधार हैं—धर्म, व्यापार और व्यंग्यगत। अभाववादी अलंकार और गुण की सत्ता मानते हैं। भक्तिवादी लक्षणा में ही ध्वनि को अन्तर्भुक्त करते हैं और अनिर्वचनीयतावादी ध्वनि-स्वरूप को शब्द से पृथक कर अनिर्वचनीय मानते हैं। किन्तु सम्प्रदाय [illegible] विवेचन के मूल में उसको वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित करने का प्रयास है।

देखिये :—

स्याम घटा घनघोर भरें उमड़ें घट जोरन सों घटै घोरन,
सीतल धीर समीर चलें भरें होइ घनी धुनि चातक मोरन।
राम हौं, मेरो कठोर हियो हौं, सहौं ते सबै दुख ऐसो करोरन,
हा! हा! विदेह-सुता बन में सहिहै किमि पावस के झकझोरन।

'हौं सहौंगे' से वाक्य पूरा हो जाता है, अतः 'राम हौं' का वाच्यार्थ बाधित हो जाता है। अतः इसमें वाक्यगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि हो जाती है।

(२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि—जहाँ-जहाँ वाच्यार्थ उपयुक्त न होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृत समझा जाता है। इसमें प्रयोजनवती लक्षणा रहती है। इस ध्वनि में विपरीत लक्षणा का भी उपयोग किया जाता है। यथा,

"कहि न सकौं [illegible] कीन्हों [illegible] उपकार।
सखे! [illegible] ।।"

इसमें 'अत्यन्त अपकार करना व्यंग्यार्थ है।'

पदगत का उदाहरण—

[illegible] —
[illegible]।

[illegible]

[illegible]

परन्तु होते दीन ही मलीन थे ,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को ॥,

'हर्ष भाव की शान्ति विषाद भाव से है।'

भावोदय—जहाँ किसी भाव की शान्ति पर किसी अन्य भाव से उदय हो।

भावसन्धि—समान चमत्कार वाले दो भावों की उपस्थित जब एक ही साथ हो।

'हर्ष और विषाद की संधि'—

भ्रकुटि बिनइ पुनि निरद महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन जुग, जनु विधु मंडल डोल॥

भाव सबलता—जहाँ पर बहुत से भावों का सम्मेलन हो।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि—

इसके तीन भेद हैं—(१) शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि (२) अर्थ शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि (३) शब्दार्थ-उभय-शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

इस प्रकार इनके विभिन्न भेदों और उप भेदों को मिलाकर ध्वनियों की संख्या अत्यन्त अधिक हो जाती है।

इसके दो भेद है—(१) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य, (२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य।

जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे पूर्वापर क्रम संलक्ष्य होता है वहाँ संलक्ष्य क्रम व्यंग्य होता है और जहाँ इनमे पूर्वापर संबन्ध प्रतीत नहीं होता वहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है। इस ध्वनि में रस, भाव, रसाभास और भावाभास आदि व्यंग्यार्थ होते हैं।

यह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य आठ प्रकार का होता है—

(१) रस,[1] (२) भाव,[2] (३) रसाभास,[3] (४) भावाभास, (५) भाव शान्ति, (६) भावोदय, (७) भावसन्धि, (८) भाव शबलता।

भावशान्ति—भाव का जब अनौचित्य रूप से वर्णन हो। ये व्यभिचारी भावों की प्रधानता पर होते हैं।

भावशन्ति—जब एक भाव की व्यंजना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे विरुद्ध भाव की व्यंजना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है।[4] यथा—

उदाहरण—'प्रतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।

१—"विभावनुभावव्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः"—भरत ना० शा०, अ० ६।

२—साहित्यदर्पण मे अपुष्ट स्थायी भावों की 'भाव' संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख है। यथा, देव विषयक, गुरु विषयक, पुत्र विषयक, राजविषयक रति तथा उद्बुद्ध मात्र स्थायीभाव और प्रधानता से व्यंजित व्यभिचारी आदि की 'भाव' संज्ञा है।

३—जब रस 'अनौचित्य रूप मे व्यंजित हो। शृंगार रसाभास—उपनायक मे प्रेम होना, उभयनिष्ठ प्रेम न होना, (२) हास्य (गुरु आदि को आलंबन), (३) करुणरसाभास (विरक्त मे शोक का होना), (४) रौद्र रसाभास (पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना), (५) वीर रसाभास (नीच व्यक्तियों मे उत्साह होना), (६) भयानक रसाभास (उत्तम व्यक्तियों मे भय का होना), (७) वीभत्स (यज्ञ के पशु मे ग्लानि होना), (८) अद्भुत रसाभास (ऐंद्रजालिक कार्यों मे विरभाव होना). (९) शान्त रसाभास (नीच व्यक्तियों में शम की स्थिति होना)

४—आइ गए हनुमान, जिमि करुना मे वीर रस ॥

परन्तु होते यदि हो सतोन पै,
न देखते पै उन्ह वे मुकुन्द को ॥

'हर्ष भाव की शान्ति विषाद भाव से है।'

भावोदय—जहाँ किसी भाव की शान्ति पर किसी अन्य भाव से उदय हो।

भावसन्धि—समान चमत्कार वाले दो भावों की उपस्थिति जब एक ही साथ हो।

'हर्ष और विषाद की संधि'—

प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन जुग, जनु विधु मंडल डोल॥

भाव शबलता—जहाँ पर बहुत से भावों का सम्मेलन हो।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि—

इसके तीन भेद हैं—(१) शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि (२) अर्थ शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि (३) शब्दार्थ-उभय-शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

इस प्रकार इनके विभिन्न भेदों और उप भेदों को मिलाकर ध्वनियों की संख्या अत्यन्त अधिक हो जाती है।

अध्याय २२

रसोत्पत्तिः

आलंकारिकों मे रस के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में चाहे कुछ वैमत्य अवश्य रही हो, किन्तु काव्य मे उसके प्रामुख्य की सबकी सहमति अवश्य है। रसोत्पत्ति का मूलाधार सौन्दर्यानुभूति से प्राप्त आनन्द है। रसानुभूति के क्षणों मे एकरसता का आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु रसोद्रेक के समय भावनात्मक प्रक्रिया के द्वारा कुछ आचार्यों ने विभिन्न रस-सारणियो का भी निर्धारण किया है जो रसानुभव की तीव्रता मे कथमपि सम्भव नही हैं। वस्तुतः काव्य का आत्यन्तिक प्रयोजन ही सामाजिकों द्वारा रस-चर्वणा है जो आचार्य मम्मट के 'सद्यः परिनिर्वृत्तये,'[1] के निकट है। रस-सूत्र के आदि प्रणेता काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में महामुनि भरत हैं जिन्होने 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते,' की घोषणा की है। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्द वर्धन ने प्रस्तुतकारिका में काव्यात्मा रस को ही माना है :—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥—ध्वन्यालोक।

'रसादि रूप अर्थ ही काव्यात्मा है। क्रौञ्च दम्पति के वियोग से उत्पन्न, आदि कवि वाल्मीकि का शोक ही तो श्लोक मे परिणाम हुआ है।' इस कारिका के टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने भी आचार्य आनन्दवर्धन की दो विरोधी दिखाई पडने वाली उक्तियो मे सामञ्जस्य स्थापित किया है। एक स्थान पर 'काव्यस्तामाध्वनि' और दूसरे स्थान पर 'काव्यस्यात्मा रस' कहा गया है। ध्वनिकार ने सामान्य रूप से ध्वनि को काव्यात्म कहा है। वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि का पर्यवसान अन्ततः रस में ही हो जाता है जिन्हें वाच्यार्थ से उत्कृष्ट माना गया है।'[2] आचार्य विश्वनाथ 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' ही

१—काव्य प्रकाश— { काव्य यश सेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तसम्मित तयो पदेश युजे॥

—मम्मट।

२—ध्वन्यालोक लोचन-'तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकार ध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टे तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।'

मानते हैं। भोज देव ने काव्य के रसान्वित होने पर बल दिया है[१]। पंडित राज ने काव्य का आत्म-तत्त्व रस ही माना है। उनके त्रिविध व्यंग्य का तात्पर्य काव्यात्मा से नहीं है अपितु विभिन्न काव्य-सारणियों से है। सभी प्रमुख आचार्य असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य को ही रस मानते हैं। साहित्य दर्पणकार की इस उक्ति से वे सहमत नहीं है कि 'रसात्मक वाक्य' को ही काव्य कहा जाय। ऐसा होने पर वस्तु और अलंकार प्रधान काव्यों में अव्याप्ति दोष आ जायगा। वस्तुतः 'काव्यात्मनो व्यंग्यस्य' का तात्पर्य मात्र रस से ही है। रस-निरूपण के सन्दर्भ में पंडित राज ने लिखा है कि तीन अभिधा मूल ध्वनि और दो लक्षणा मूल ध्वनि में रस ही चामत्कारणीय है और वही ध्वनि का आत्म-स्वरूप है।'[२] संस्कृत के प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के महत्त्व भाव के रूप में रस-प्रतिष्ठा की है।

रस के शास्त्रीय स्वरूप की प्रतिष्ठा सर्व प्रथम भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में हुई है। नाट्यशास्त्र का सूत्र तथा तत्सम्बन्धी अंश निम्नलिखित है :—

'तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

को दृष्टान्तः? अत्राह—यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्य संयोगात् रसनिष्पत्तिः भवति, यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैः व्यंजनैः औषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्त्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। अत्राह—रस इति कः पदार्थः? उच्यते। आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नाना व्यंजन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा. हर्षादींश्च अधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनय व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च अधिगच्छन्ति।,

विभावों, अनुभावों और व्यभिचारि भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। जिस प्रकार नाना प्रकार के गुडादिक द्रव्यों, व्यजनों और औषधियों द्वारा षाडव रस (एक प्रकार का स्वादिष्ट पेय) निष्पन्न होता है, उसी प्रकार विभावों, अनुभावों और व्यभिचारि भावों से युक्त हो कर स्थायिभाव भी रस हो जाते हैं। सहृदय सामाजिक वैसे ही आनन्द लेते हैं जैसे सौमनचित्त वाले पुरुष सुचारु अन्न खाकर प्रसन्न होते हैं।'

रसतत्व के शास्त्रीय स्वरूप की प्रतिष्ठा के पूर्व विभावादि-निरूपण आवश्यक है। इत्यादि स्थायिभावों के कारण नाट्य और काव्य में विभाव कहे

१—सरस्वती कण्ठाभरण—प्रदीप गुणोत्पन्नमलङ्कारै रलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविं, कुर्वन् कीर्ति प्रीतिञ्च विन्दति॥

जाते है। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। नायक या नायिक इत्यादि के आश्रय नायिका या नायक आलम्बन विभाव कहलाते हैं[1]। उद्दीपन विभाव व्यक्ति के हृदय में वासना रूप से स्थित इत्यादि भाव को उद्दीप्त करते है। यथा, एकान्त स्थान, वसन्तऋतु, आलम्बन की विविध चेष्टाएँ आदि। अनुभाव[2] वे बाह्य चिह्न हैं जिनमें रत्यादि स्थायिभाव अभिव्यक्त होते है।[3]

सात्विक[4] भाव भी विशिष्ट प्रकार के अनुभाव ही हैं जिनकी संख्या[5] है। चित्त में सत्वगुण के उद्रेक से इनकी उत्पत्ति होती है। जिन अस्थायी चित्तवृत्तियों की किसी विशेष स्थायीभाव के प्रसंग में क्षणिक उत्पत्ति होती है, उन्हे व्यभिचारि या सचारिभाव कहते है। सागर मे लहरो की भाँति ये स्थायि भावो से उत्पन्न होकर उन्ही मे विलीन हो जाते हैं।[6] इनका संचरण सभी रसों में होता है। इसलिए ये व्यभिचारि भाव भी कहे जाते हैं। वासना रूप से हृदय मे सदा विद्यमान रहने वाला जो स्थिर भाव, विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावो से विच्छिन्न नही होता, वह स्थायिभाव है जिसकी उपमा समुद्र से दी जाती है। समुद्र सब प्रकार के जलो को अपने मे मिलाकर अन्ततः खारा ही बना लेता है।[7] महामुनि भरत के अनुसार स्थायिभाव आठ हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, और विस्मय ये यथाक्रम शृंगार हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसो के स्थायिभाव हैं। दण्डी अपने काव्यादर्श में, धनञ्जय दशरूपक मे इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इन आचार्यो के अनुसार नाटक मे शान्त रस नहीं हो सकता क्योकि उसके स्थायि-

---

१—'एवं पञ्चात्मके ध्वनै परमरमणीयता रस ध्वने स्वदात्मा रस स्तात्रद भिधीयते।' —रस गगाधर।

२—आलम्बन नायकादिस्तमालम्बन रसोद्गमात।—साहित्य दर्पण।

३—उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा॥—वही।

४—अनुभावो विकारस्तु भावसूचनात्मकः।—दशरूपक।

५—स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च. स्वरभङ्गोऽथ वेपथु.।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः॥—नाट्यशास्त्र।

६—विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण.।
स्थायिन्युन्मग्न निर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥—दशरूपक।

७—विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणा करः॥दशरूपक।

करुण रस की निष्पत्ति में उचित पुष्टि नहीं हो पाती। सहृदय प्रेक्षकों का —के वैराग्य स्वरूप ही होगा, —को प्रसंग का आस्वाद नहीं।[१] आनन्द वर्धन,[२] अभिनवगुप्त[३] और मम्मट[४] आदि शान्त को नवम रस और शम, तत्त्वज्ञान या निर्वेद को उसका स्थायिभाव स्वीकार करते हैं। भाव प्रकाश के प्रणेता शारदातनय शान्त को रस मानते हैं जिसका स्थायिभाव रजस् और तमस् से विहीन एवं बाह्य अर्थों से [illegible], चित्त की सत्त्व प्रधान अवस्था है[५]।

रस के व्युत्पत्तिमूलक दो अर्थ निर्धारित किए हैं। १–आस्वाद, 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।' २–द्रवत्व-'सरते इति रसः।' सामान्य रूप से 'रस' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में भी हुआ है, जैसे, षट् रस, दूध, शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्श, इन्द्रिय सुखादि, आनन्द, आयुर्वेद में रसायन, पारद, वीर्य, जल तथा रस नेन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ, वेदों में सोमरस, वनस्पतियों का द्रव, दूध, जल, स्वाद, गन्ध आदि, शतपथ ब्राह्मण में मधु के लिए उपनिषदों में प्राणतत्त्व या स्वाद के लिए; रामायण में जीवन-रस पेय तथा विष और महाभारत में जल, सुरा, गन्ध, काम एवं स्नेह के लिए इसका प्रयोग मिलता है। साहित्य शास्त्र में इसका प्रयोग काव्यास्वाद या काव्यानन्द के लिए हुआ है। ब्रह्मानन्द, सहोदर की कल्पना का मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है जिसमें 'रसो वै सः', वह पर ब्रह्म को ही आनन्द या रसरूप बताया गया है। आनन्द में ही सृष्टि का आविर्भाव, विकास और तिरोभाव भी है।

आस्वादनीयता की दृष्टि से रस ब्रह्म भी एक ही हैं। किन्तु उपाधि-भेद से इनमें भी मुख्यतया नव भेद हो जाते हैं और कालगत अन्य विभेदों की भी सृष्टि होती रहती है। जैसे शान्त रस का सबंध काव्य-नाट्य से दृश्य काव्य के लिए भी स्थिर किया गया। वात्सल्य और भक्ति को भी रस रूप में स्वीकृति मिली, सौख्य, मृग्य, श्रद्धा, व्यसन, दुःख उदात्त, पारवश्य, कार्पण्य, व्रीडनक आदि को भी रस-रूप में स्वीकृति दिलाने का आग्रह हुआ। शृंगार के रस राजत्व तथा "एकोरसः करुण एवं के मूल में रस से रस के उद्भव की कल्पना निहित है।

१—देखिए—दशरूपक

२—देखिए—ध्वन्यालोक

३—देखिए—अभिनव भारती

४—देखिए—काव्य प्रकाश, ४।३०।४७

५—रजस्तमोविहीनात्तु सत्त्वावस्थान् सात्वेततः।
मनागस्पृष्टबाह्यार्थात् शान्तो रस इतीरितः।—भाव प्रकाश।

अध्याय २३

अलङ्कार—

संस्कृत साहित्य मे अलङ्कार-शास्त्र का प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप में किया गया है। केवल अभिधान पर दृष्टि रखने वाले इसे काव्य का बहिरंग मान सकते हैं। किन्तु काव्य के मुख्य अन्तस्तत्त्वों का वैज्ञानिक रीति से विवेचन होने के कारण यह काव्य का अन्तरंग भी है। अलंकार शास्त्र की परिधि मे निस्सन्देह असंख्य आचार्यों ने रस शास्त्र अथवा सौन्दर्य शास्त्र का भी समावेश किया है। आचार्य भामह ने 'प्रेयस' रसवत् आदि अलंकारों के अन्तर्गत ही 'महाकाव्य मे रस की स्थिति' मात्र है। दण्डी ने भी 'रसवत्' अलंकार के भीतर आठों रसों और आठों स्थायी भावों की कल्पना की है। उद्भट ने 'रसवत्' अलंकार के भीतर नौरसों को माना है। रुद्रट ने यों तो सर्वत्र अलंकार की ही स्थिति मानी है किन्तु काव्य मे रसों के सन्निवेश के वे भी पक्षपाती हैं। भारतीय आचार्यों मे रुय्यक ने अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा आक्षेप के भीतर प्रतीयमान का व्यंग्य के बहुत से भेद ग्रहण कर लिये हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि के स्वरूप को तो स्वीकार किया है। किन्तु उसे ही काव्य का सर्वस्व नहीं मान लिया है। प्रतीयमान अर्थ को केवल सहायक रूप मे ग्रहण किया गया है।

भाषा के रूप (Form) को संवारने तथा सजाने के साधन विशेष के रूप मे अलंकार का प्रयोग हुआ। किन्तु कालान्तर में इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसे रूप (Form) का एक अत्यन्त आवश्यक अंग मान लिया। आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के शब्द और अर्थ निर्दोष हों, गुणयुक्त हों और कहीं-कहीं बिना अलंकार वाले भी हों तो कोई बात नहीं।,[1] इस पर टिप्पणी करते हुए चन्द्रालोककार जयदेव ने कहा है कि जो लोग काव्य को अलंकार हीन के शब्द और अर्थ वाला मानते हैं वे यह क्यों नहीं मान लेते कि अग्नि अनुष्ठ (ठंडी) भी होती है।,[2] इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने उसी प्रकार अलंकार को

१—देखिए मम्मटकृत—काव्य प्रकाश—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावन लङ्कृती पुनः क्वापि।'

२—अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥

काव्य का प्राण नहीं माना है जिस प्रकार व्यक्ति का मुख्य गुण उसका हृदय है। आचार्य भामह ने सर्व प्रथम यह मत प्रतिपादित किया कि कविता के सौन्दर्य के लिए अलंकार आवश्यक है।, इस सिद्धान्त का समर्थन उनके टीकाकार उद्भट ने किया और दण्डी, रुद्रट और प्रौढ़ हेमचन्द्र आदि अनेक विद्वानों ने उनका अनुगमन किया।

इस प्रकार यदि हम संस्कृत वाङ्मय पर एक दृष्टि डालकर उसकी मूल चिन्ता धाराओं के अजस्र प्रवाह को समझने का प्रयास करें तो हमें स्पष्ट रूप से विदित होगा कि तत्कालीन साहित्य में दो प्रकार की चिन्ता धारायें थी। एक प्रकार की शास्त्रीय चिन्ता नाट्यशास्त्र के रूप में थी जिसका प्रधान प्रतिपाद्य रस था—दूसरी चिन्ता अलंकार शास्त्र के रूप में थी जिसका प्रधान विवेच्य विषय अलंकार था। आचार्य आनन्द वर्धन तथा ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित पण्डितों ने इन दो धाराओं को मिला दिया।[1] अलंकार पहले प्रधान गुण माना जाता था। पहले विषय के उपयुक्त निर्वाह के लिए उसे उचित क्रम से सजाना अलंकार कहलाता था। किन्तु कालान्तर में अलंकार का उत्तरदायित्व की सीमा से आगे बढ़ जाना पण्डित मन्यता समझा जाने लगा।[2] रुद्रक का कहना है कि 'प्राचीन आलंकारिक भी काव्य में अलंकारों को ही प्रधान मानते हैं।' इसके प्रति कुछ समय तक तो ऐसा व्यसन बढ़ा कि प्रत्येक आचार्य नए-नए अलंकारों का विधान करना ही अपना इष्ट समझते थे। आचार्य भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है।[3] किन्तु वे विभिन्न रसों की परिधि के भीतर ही आ गए हैं। वीर, रौद्र और अद्भुत रस की सृष्टि के लिए छोटे-छोटे अक्षरों से युक्त शब्दों से उपमा और रूपक का प्रयोग हो। शृंगार रस की रचना के लिए रूपक और दीपक अलंकारों से युक्त आर्या छन्द का प्रयोग हो। कुवलयानन्द तक इसका विकास १२५ तक की सख्या तक पहुँच गया।

अलंकारों से वस्तु-वर्णन में सहायता मिलती है। केवल सृष्टि वैचित्र्य वर्णन ही काव्यत्व नहीं है, वह स्वभावोक्ति हो सकता है जो अलकार की श्रेणी में आती ही नहीं है, क्योंकि वह वर्ण्य, वस्तु या विषय है—उसकी वर्णन-प्रणाली

१—देखिए आ० ह० प्र० द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ११६

२—सन्त ऑगस्टाइन।

३—१, अनुप्रास, २, उपमा, ३, रूपक और ४, दीपक

नहीं। महाराज भोज ने 'सुन्दर अर्थ शोभित करने वाले को ही'[१] अलंकार की कोटि में माना है। आचार्य दण्डी ने अवस्था की योजना से स्वभावनीय की कल्पना की है।[२] वाम्बत ने वर्णित विषय को हृदयंगम करने के लिए ही अलंकार-योजना की गई है वस्तु-निर्देश अलंकार का विषय नहीं है, वह यथार्थ में रस का विषय है जिसका सम्बन्ध मानव हृदय के स्रोतों से है। जहाँ किसी प्रकार क्रिया-व्यंजना होगी वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारता प्राप्त हो सकती है।[३]

जिससे सजावट की जाय उसी को अलंकार कहते हैं।[४] आचार्य वामन ने सौन्दर्य को ही अलंकार माना है।[५] राज शेखर ने अलंकारों की उपयोगिता से इसे वेद का सप्तम् अंग माना है।[६] आचार्य भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के द्वारा शब्द और अर्थ के समुचित सामञ्जस्य द्वारा काव्य की कल्पना की है। आचार्य कुन्तक ने 'साहित्य की कल्पना को अग्रसर किया है।[७] भोजराज ने भी 'शृंगार-प्रकाश में उसी भावना को पुष्ट किया है। वात्स्यायन ने अपने काम सूत्र में चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत क्रिया 'कल्प' की भी कल्पना की है जिसका अर्थ है काव्य ग्रंथों का विधान। इस प्रकार सौन्दर्य बोध के विविध उपकरणों का प्रतिपादक शास्त्र अलंकारों को माना जा सकता है। भामह के यह कहने पर भी 'अनलंकृती पुनः क्वापि' परवर्ती जयदेव को 'चन्द्र लोक' में जो उत्तर देना पड़ा है[८] उससे इसकी महत्ता सिद्ध होती है।

१—अलमर्थमलंकुर्वन,'—महाराज भोज

२—नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावो क्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

३—आचार्य शुक्ल—

४—(अलं क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः)

५—सौन्दर्य मलङ्कारः।

६— ... ादलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।
... रिज्ञाताद्वेदार्थानवजनतेः। काव्य मीमांसा पृ० ३।

... बलदेव उपा०—पृष्ठ ४
... नलंकृती।
... कृती। चन्द्रालोक १।८

अलंकारों के वर्गीकरण के भी विभिन्न आधार हैं। कुछ लोग शब्द और अर्थ में विशिष्टता तीन प्रकार से मानते हैं (१) वर्ण से (२) व्यापार से (३) व्यंग्य से।

ध्वनि-आचार्य आनन्दवर्धन

नित्य　　　　अनित्य वक्रोक्तिकार　　　　भोजराज

गुणआरीति　　　　चमत्कार　　　　(कुन्तक) भट्टनायक

यों तो प्रायः सभी आचार्यों ने इस संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। किन्तु आचार्य भामह, रुद्रट तथा उद्भट इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय हैं। अलंकार मत के प्रवर्तक आचार्यों में भामह सर्वप्रथम हैं जिनके टीकाकार आचार्य उद्भट तथा रुद्रट हैं। दंडी भी अलंकारों की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकार कर चुके थे। भरत के नाट्य शास्त्र से कुवलयानन्द तक अलंकारों का पर्याप्त विकास हो चुका था। इनके वर्गीकरण में रुद्रट का औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष अलंकार मूल माना गया है। इस विषय में एकावलीकार विद्याधर की विवेचना अधिक वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य विरोध और तर्क को उसका मूल माना है। वाङ्मय के लिए अलंकार सबसे अधिक उपयोगी इसलिए है कि इन्हीं से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई है। १

ऐतिहासिक क्रम से विचार करने के लिए अलंकार के आचार्यों और ग्रंथों का निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की गई है—

आचार्य	ग्रन्थ	अलंकार संख्या
१—भरत	नाट्यशास्त्र	४
२— वेदव्यास	अग्नि पुराण	७२१ अलंकार १५ अलकार
३—भट्टि	भट्टिकाव्य	३८ ”
४—भामह	काव्यालंकार	३८ ”
५—दण्डी (सप्तम शताब्दि)	काव्यादर्श	३९ ”
६—उद्भट	काव्यलकार-सार-सग्रह	४१ ”
७—वामन	काव्यालकार-सूत्र	३३ ”

१—देखिए—भारतीय साहित्य शास्त्र—बल्देव उपाध्याय कृत पृ० २२

८—रुद्रट (नवम् शताब्दि) काव्यालंकार ५-शब्द०,५० अर्थ०
९—भोज (एकादश शताब्दि) सरस्वती कंठाभरण २४ ,, २४ ,,
१०—मम्मट ,, काव्यप्रकाश ८ ,, ६२ ,,
१२—रुय्यक (द्वादश ,,) अलंकार सूत्र (अलंकार सर्वस्व) ८४ ,, अर्थ०
१२—वाग्भट्ट ,, काव्यालंकार ४ ,, ३५ ,,
१३—हेमचन्द्राचार्य ,, काव्यानुशासन ६ ,, २९ ,,
१४—जयदेव-(द्वा०,त्रयोदश) चन्द्रालोक ८ ,, ८२ ,,
१५—विद्याधर-(१२७५ से १३२५) एकावली-ध्वन्यालोक, कांक प्रकाश और अलंकार सर्वस्व के आधार पर
१६—विद्यानाथ (१२७५ से १३२५) प्रतापरुद्र-यशोभूषण-काव्य प्र० और अलकार सर्वस्व के आधार पर
१७—(द्वितीय) वाग्भट्ट चतुर्दश शताब्दि) काव्यानुशासन
१८—विश्वनाथ कविराज (चतुर्दश शताब्दि)। साहित्यदर्पण-१० शब्द०, अर्थ०
१९—अप्पय दीक्षित कुवलयानन्द और चित्र मीमांसा— १२५ (१५७५-१६६७)
२०—शोभाकर (सप्तदश शताब्दि) अलकार-रत्नाकर-पूर्वाचार्यों से २७ अलकार और अधिक
२१—यशस्क अलकारोदाहरण ६ नवीन अलंकार
२२—पण्डितराज जगन्नाथ (सप्तदश शताब्दि) रसगंगाधर—७० शब्दा० और अर्थ०

की व्याख्या करते हुए लिखा है। कि, संगीतमय विचार उस मन का होता है जो वस्तुओं के अन्तस्तल मे प्रवेश कर उनका रहस्य जान चुका है।' हडसन का विचार है कि 'कविता, कल्पना और मनोवेगों द्वारा जीवन की व्याख्या है।' आचार्य शुक्ल ने हृदय की 'मुक्तावस्था को' रसदशा कहा है, 'हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहा गया है।' तात्पर्य यह कि विभिन्नता में अभिन्नत्व को स्थापित करना, विशृंखलित जीवन मे शृंखला की कड़ियाँ जोड़ना, जीवन के प्रति अनुराग जगाना काव्य के मूल में है। संगीत इन्हीं काव्य-तत्त्वों को गति देता है, स्पन्दन देता है, एकाग्रता प्रदान करता है, ध्यानावस्थित मुद्रा का सूत्रपात करता है और आत्म-विस्मरण की प्रेरणा देता है। कलाकार सत्य की पकड़ लेखनी की साधना से करता है, विराट् को स्याही की एक-एक बूँद में उतारकर सजीव बनाता है। कहीं सत्यान्वेषण मे लेखनी को गति मिलती है तो कहीं मति, कहीं भावों की स्याही कम पड़ जाती है तो कहीं अधिक। वह अपनी साधना में कहीं सचेष्ट रहता है तो कहीं निश्चेष्ट। किन्तु उसमे साधक का आत्मविश्वास तो रहता ही है। संगीतज्ञ भी स्वरों को अलापता है, वीणा के तारों पर उसे उतारने का प्रयास करता है, वह भी साधक है। अपनी साधना में चिरकाल से ये दोनों रत हैं, अपने पथ पर अविचल भाव से बढ़ते जा रहे हैं। कहीं लेखनी टूट रही है, टूटकर गिर रही है। तो कहीं वीणा के तार ढीले पड रहे हैं, कहीं उनमे अधिक कसाव आ रहा है, हृदय की पीडा उँगलियों में उतर रही है। फिर भी दोनों बढ़े जा रहे हैं, कहाँ ? भगवान् जानें !

संगीत काव्य की भाँति शब्दों की भाषा नहीं, बल्कि वह भाव-पूरित ध्वनि की भाषा है। सारी सृष्टि ही संगीतमय है। वायु-पत्ते, नदी, मेघ, रात सब के अन्तस्तल से एक मूक किन्तु स्पष्ट स्वरलहरी प्रवाहित होती रहती है। मानव का आनन्दातिरेक जो वाणी का विषय नहीं बन पाता, संगीत का अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करता है। भाव-पूरित क्षणों में मानव की तल्लीनता कभी काव्य के निकट आ जाती है, कभी नाद के क्षेत्र में संगीत की साधना जयदेव के 'गीत गोविन्द' से ध्रुवपद' की सरस रागिनी मे पूरी हुई थी। 'ललित लवंग लता परिशीलन' मे, 'सरस बसन्त के भव्य वातावरण में हरि का विहार' करना दिखाया गया है। मैथिल-कोकिल विद्यापति के कंठ से वही वाग्धारा उनकी पदावली की पंक्ति-पंक्ति मे बह रही है। सभी कलाकारों की यह साधना उनकी कला को प्रेषणीय और प्रभविष्णु बनाने का साधन विशेष है। भावों को स्वर द्वारा अभिव्यक्ति ही, संगीत है। काव्य मे शब्द 'ब्रह्म' है , संगीत मे 'नाद' ब्रह्म

है। इस प्रकार दोनों का सम्बन्ध आध्यात्मिक, चिरन्तन एवं सार्वजनीन है। काव्य में गेयता के साथ ही साथ श्रेयता और प्रेयता भी हो, संगीत में प्रधानता गेयता को है। यदि वह श्रेय और प्रेय भी हुआ तो विशेष प्रभावोत्पादक होगा।

"संगीत का मानव जीवन से निकटतम सम्बन्ध है। बालक के जन्म लेते समय ही चारो ओर खुशी के गीत गाए जाते हैं, विवाह के मंगलमय गीतों के बीच वह एक नए संसार में प्रवेश करता है, मनुष्य की सांस का प्रत्येक तार संगीत की झंकार बनता रहता है, मृत्यु के समय भी उसे गीता के मंत्र सुनाए जाते हैं। यही कारण है कि भारत के अमर कवि, भक्त, संत और गायक,—जयदेव, विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर, मीरा और रसखान—आज तक भी विशेष निकट हैं।" काव्य और संगीत ये दोनों ही ललित कलाएँ हैं। स्वरों से मनुष्य के आरोहावरोह के साथ संगीत की और कविता की प्रत्येक पंक्ति के साथ भाव की गतिशीलता प्रकट होती है। दोनों का ही प्राण 'नाद' है। पर इनमें भी संगीत के 'नाद' में सूक्ष्मता है, काव्य के नाद में स्थूलता या चित्रण है, दोनों ही में ध्वनि और लय का उपयोग होता चलता है। पर संगीत में इसका नियमन होता है। काव्य-कला स्वच्छन्द है, उसमें गति और यति की उतनी चिन्ता नहीं रहती है जितनी रूप-चित्रण की या सविस्तार वर्णन की। स्वरों की कल्पना भी रस के आधार पर की गई है। काव्यकला में संगीत का होना आवश्यक है। संगीतात्मकता के कारण ही आज के मुक्तक गीतिकारों का साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है, उनके गीति में सरसता, सजीवता और आह्लादकता है। संगीत में 'पुनरुक्ति' अपरिहार्य नहीं होती, किन्तु काव्य में वह क्षम्य नहीं। कलाकार अपनी अभिव्यक्ति में जितना सच्चा होगा, उतना ही अपनी कला को सफलता देने में वह सफल होगा। उसमें जितनी ही अधिक साधना होगी, वह संसार के हृदय में अपना उतना ही अधिक स्थान बना लेगा। कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है, जीवन साधना।

कविता शब्दों के रूप में संगीत है; संगीत स्वर-रूप में कविता। अपने रूप में संगीत, कविता के समकक्ष है। किन्तु स्थूल रूप में वह कविता से थोड़ी दूर हो जाता है क्योंकि स्थूलता में मूर्ताधार अधिक हो जाते हैं। संगीत की यह शक्ति भी अनिर्वचनीय है जिसकी मधुर मूर्च्छना में 'सूर' की गोपियाँ मुरली-स्वर में विभोर हो जाती हैं, जिसके प्रभाव से वे 'मार्ग-पथ' और 'गृह-व्यवहारों' को भी भुला देती हैं। विषधर अपने स्वभाव का परित्याग कर सपेरे के हाथों का खिलौना बना रहता है, मृग जीवन का मोह त्याग मृत्यु का सहर्ष मुँह चूमता है। संगीत की जिस शक्ति से जड़ और चेतन पर भी उसका प्रभाव पड़ता है,

यह है—उसका 'षड्ज', उसका 'सरगम'। संगीत, काव्य के रूप में निकला तो हृदय से है। किन्तु बाह्येन्द्रियों में उसका सम्बन्ध 'श्रवण' से ही है। संगीत का सर्वस्व भाव है, भावावेश ही कविता है। जिसमे 'सुन्दर शब्दों को सुन्दर क्रम से रखकर भावाभिव्यक्ति की जाती है।'

काव्य और संगीत का उद्गम स्रोत भी उतना ही पुराना है, जितना पुरानी सृष्टि है, जितना पुराना इसका क्रमिक विकास है। प्रकृति कवियों की भी चिर-प्रेयसी है और संगीतज्ञों की भी। प्रकृति रूप और शृंगार मे अलबेली है। उसकी रुन-झुन मे आँखें उलझाए हुए कोई हँसता है और कोई रोता हुआ गा रहा है अन्तरिक्ष मे मेघमाला की मनुहारें न जाने कितनी कल्पनाएँ करती हैं पर पूरी नही होती, हारकर बरस पडती हैं, मुसकान कौंधकर छिप जाती है—यही तो प्रकृति का और शून्य का शाश्वत संगीत है। हिन्दी के सुकुमार कवि 'पंत' का भी 'गान' 'आह' से निकला है और कविता चुपचाप आँखों से उमड़ कर बहने लगी है। हिन्दी की गायिका महादेवी भी जब गाते-गाते थक जाती हैं तब 'विश्व-वीणा' में अपनी 'झंकार' मिलाने लगती हैं। यो तो संगीत का क्रमिक विकास ब्रह्मा, शिव, सरस्वती, नारद से होता हुआ भरत मुनि तक हुआ है और इसमें छः राग और तीस रागिनियो की कल्पना भी की गई है, जिनमे पाँच राग (भैरव, हिण्डोल, मेघ, दीपक एव श्री) की उत्पत्ति शिव और 'कौशिक' राग की उत्पत्ति पार्वती से मानी गई है। तीस रागिनियाँ ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न की गई हैं। किन्तु इसका एक दार्शनिक पक्ष भी है जो इसे काव्य के अधिक निकट ला देता है। ईश्वर के तीन रूप सत् चित्-आनन्द के 'सत्' मे कविता की सृष्टि हुई, उसके 'आनन्द' रूप मे संगीत की सृष्टि। सत्य दोनों का एक ही है। कलाकार की भाव-विभोरता एक नीरव संगीत के रूप मे अभिव्यक्त होकर जब चुने-चुने वर्णों से सजाई जाने लगती है, तब कविता की सृष्टि होती है। 'चित्रो मे नेत्रो का नीरव संगीत है, संगीत मे मन का मुखर चित्र।'

उपर्युक्त विवेचन में संगीत को शब्द-रहित 'नाद' को विशेष मानकर ही निरूपित किया गया है क्योंकि इसकी परिधि मे नृत्य एव वाद्य कलाएँ भी आ जाती हैं। जीवन मे सामरस्य और आनन्द की सृष्टि-दोनो का लक्ष्य है। समष्टि रूप मे कविगत भावों की अभिव्यक्ति संगीत मे आती है, पर काव्य की कल्पना और संगीत का राग—दोनो अभिन्न हैं। भाव-जगत् में कल्पना है, शब्द-जगत् मे वही राग है। सृष्टि की सर्जनात्मक शक्ति 'नाद' पर ही आधारित है और उसका रूप है—शब्द, ध्वनि, मूर्च्छना। यही काव्य तथा संगीत दोनो का रूप है।

अध्याय २५

साहित्य के विषय (CONTENTS) :—

वाङ्मय की रूप-सज्जा के लिए विषय-प्रयोजन आवश्यक है। सारी जड़-चेतन तथा उससे इतर प्रकृति—साहित्य की विस्तृत परिधि के अन्तर्गत है। साहित्य में वे सभी दृश्य-अदृश्य वस्तुएं आ जाती हैं जिसका जीवन और जगत् से चाहे कुछ सम्बन्ध हो या न हो। विषय-निर्धारण में मनुष्य की स्वान्तः प्रेरणा, अनुकरण-भावना और प्रतिक्रिया-वृत्ति सहायक है। अनुकरण और प्रतिक्रिया के लिए तो मूर्त्ताधार और स्वान्तः-प्रेरणा को उद्‌बुद्ध करने के लिए अमूर्त्ताधार आवश्यक विषयों का मूलाधार है। साहित्य का स्वरूप सदा विषयानुकूल परिवर्तित होता रहता है। सृष्टि में वैचित्र्य है, मानव-जीवन में वैचित्र्य और जटिलता है, वही साहित्य में भी है, किन्तु साहित्य के वैचित्र्य में साम्य है; साहित्य की धारा अविच्छिन्न है। जब मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य-विलास से मुग्ध हो जाता है तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। सौन्दर्यानुभूति से साहित्य-सृजन और कला-विकास होता है। सौन्दर्य-प्रियता और सौन्दर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव जाति की उत्पत्ति के साथ ही है। इसी आधार पर हिन्दी-साहित्य का कला-विकास तीन रूपों से हुआ है—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिन्दी साहित्य के आदि काल में वाङ्मय और धर्म की प्राकृतिक अवस्था, थी, मध्य युग में नैतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ और जब भारतीय समाज में धार्मिक उत्क्रान्ति हुई, तब साहित्य में नवोत्थान का काल उपस्थित होने पर आध्यात्मिक-भावनाओं की प्रधानता हुई।

धर्म और संस्कृति की विकासावस्था में प्रकृति पृष्ठभूमि बनी, वही हमारी साधना केन्द्र विन्दु रही। प्रातः कालीन बालारुण की लालिमा में नैसर्गिक सौन्दर्य का पुंजी भूत रूप तो अनादि काल से बना हुआ है किन्तु उसमें आर्यों ने एक महाशक्ति[1] का आरोप किया तथा उसे धार्मिकता का पुट दिया। प्रकृति भारत के लिए आत्मीय थी। हिन्दू साधक, विश्व-देवता और विश्व-प्रकृति के साथ एकाकार थे। इस अवस्था में तन्मयता की भावना प्रधान थी। वह सोचता था कि हम इस रूप-सागर में निमग्न होकर नित्य नवीनता को[2]

१—'तत्सवितुर्वरेण्यम्'—

२—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेवरूपं नवरमणीयतायाः।'

प्रदान करे जो सौन्दर्य सृष्टि का मुख्य तत्त्व है। इसी भावना से धर्म और ... की विविध भूमियों का निर्माण हुआ जो काव्य के मूल हैं, जो साहित्य के ... हैं तथा जिनका मध्य युग के साहित्य में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इसी के साथ जिज्ञासा की भावना भी प्रकट हुई जिससे विज्ञान की सृष्टि हुई। धार्मिक भावना ने कला के स्वरूप को एक नवीन मोड़ दिया जिससे समस्त वैदिक वाङ्मय की सृष्टि हुई। जैन तथा बौद्ध युग में जब चरित्र-कला का अभाव हुआ तब विज्ञानों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यह परम्परा सिद्धों,नाथों, आचार्यों से होती हुई सन्त-साहित्य में पूर्ण रूप से विकसित हुई। कला में व्यक्तित्व की प्रधानता हुई, पर विज्ञान में वह विशेष रूप से लक्षित नहीं हो सका।

मध्य युग में धार्मिक उत्क्रान्ति के साथ नैतिकता का भी विकास तीन रूपों में हुआ। प्राण-रक्षा के लिए तामसिक भाव, अलक्षित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करने से राजसिक भाव, अनन्त के लिए शान्ति की व्याकुलता होने से सात्त्विक भावों की सृष्टि हुई। सात्त्विक भाव में मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता, उसके साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है, वह उसे अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है, जैसे रस-रूप में परिणित करना चाहता है। सात्त्विक उपासना में प्रकृति प्रेममयी रहती है।[१] आधुनिक युग में आध्यात्मिक भावों के प्रति पुनः प्रत्यावर्तन प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार साहित्य की विषय परिधि

१—श्री मद्भगवतगीता में इस सन्दर्भ में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि—

'सत्वं रजस्तम इति गुणः प्रकृति सम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
तत्र सत्व निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेनचान घ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा-संगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगनदेहिनाम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व देहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥
सत्व सुखं सञ्जयति रजः कर्माणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥
सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसोलोभ एवच।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥—अध्याय १४

सदैव वैचित्र्य-युक्त है। काल या साहित्य के विषयगत कुछ निश्चित स्रोत होते हैं जहाँ से वाङ्मय की निर्झरिणी सतत प्रवहमान है।

विषय और उनके स्रोत :—

कवि का कर्म काव्य कहलाता है। वस्तुतः कवि वही है जो किसी वस्तु का परिचय पारवता सम्पन्न वर्णन करने में निपुण होता है। काव्य के विषयों के विविध स्रोत हैं। इतिहास का विस्तृत विकास काव्य सामग्री के उपभोग के रूप में है। इतिहास अतीत की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए भविष्य का सन्देश-वाहक है, वर्तमान की घटनाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए वह राष्ट्रीय प्रगति का हिसावलोकन कराता है। इस प्रकार इतिहास के विषय ही कल्पना के मणि काचन संयोग से युक्त होकर काव्य का अभिधान-विधान करते हैं। भारतीय साहित्य में पुराण साहित्य से उन ग्रन्थों, का बोध होता है, जिसमें प्राचीन भारतीय कथाएँ आख्यान, इतिहास, धर्म विज्ञान आदि संगृहीत हैं। 'पुराण' का अर्थ इतिहास भी किया जाता है। कौटलीय अर्थ शास्त्र में इतिहास की परिभाषा लिखते हुए बताया गया है कि इतिहास वही है जिसमे पुराण और इतिवृत्त-दोनों हों। भारतीय साहित्य में पुराण, अतीत और वर्तमान को जड़ने वाली शृंखला है। प्रतीकवाद, परोक्षवाद और स्वप्नवाद से अनुप्राणित अठारहों पुराण भारतीय सामाजिक जीवन के प्रामाणिक साक्षी हैं।' अथर्वेद में लिखा है कि यजुर्वेद के साथ ऋक्, साम छन्द और वेद उत्पन्न हुए हैं। बृहदारण्यक मे लिखा है कि जैसे गीली लकडी के संयोग से जलती हुई आग मे से धुआँ अलग-अलग निकलता रहता है, उसी प्रकार इस महाभूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्वाङ्गिरस्, इतिहास पुराण, विद्या उपनिषद, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्यान निकले हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के मत से इतिहास और पुराण वेदनिकाय में पाँचवे वेद हैं। वस्तुतः पुराण वैदिक कथाओं, जनश्रुतियों, सृष्टि, प्रलय, मन्वन्तर, आचार वर्णन, राजवंश वर्णन के प्रतीक और भण्डार हैं।

में साहित्य-विषय के अजस्र स्रोत हैं।

साहित्य के विषयों का दूसरा स्रोत लोक-कथाएँ हैं। मौखिक कथन और श्रवण की परम्परा के कारण वैदिक वाङ्मय कालक्रम के अनुसार पाठान्तर और प्रक्षेप में समाविष्ट होकर समस्त वाङ्मय को प्रभावित करते रहे हैं। वृद्धजनों द्वारा श्रुत कथाओं और मनोरंजक कहानियों का उद्भव और उनकी परम्परा प्राचीन है। लोक-कथा उन कथाओं को कहते हैं जो प्रायः मौखिक रूप में हमें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मिलती रहती हैं। मौखिक कहानी में एक ही बात बार-बार कही जाती है और ऐसे लम्बे-लम्बे पद आते हैं जिनमें से एक भी शब्द इधर से उधर नहीं किया जा सकता। ये प्रायः पौराणिक कथा और वीर कथाओं से युक्त होती हैं। संस्कृत साहित्य में कथा साहित्य का उद्भव वैदिक साहित्य से ही होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में मनोरंजक और उपदेश प्रधान कथाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु साहित्य की वास्तविक सामग्री के रूप में लोक-कथाओं का उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। लोक-साहित्य जनता की अपनी वस्तु है। अन्न, जल, सांस की भाँति ही वह मानव जीवन का अभिन्न अंग है। लोक-साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन होता हुआ भी चिरनवीन है। नीति कथाओं में उपदेश की प्रधानता होती है परन्तु लोक-कथाओं में मनोरंजन प्रधान है। साहित्य की सामग्री प्रायः सांसारिक अथवा लौकिक होती है जो प्रायः लोक-कथाओं पर आधारित होती है और उनके समान इनमें उपकथाओं का सन्निवेश प्रायः देखा पड़ता है। लोक-कथाओं का कथानक बहुधा चमत्कार-पूर्ण अलौकिक विवरणों से भरा हुआ और रस युक्त होता है। कथा की परिभाषा की परिधि में भी यही वस्तुएं आती हैं।[1] इस प्रकार लोक-कथाएं भी साहित्य सामग्री की स्थायी निधि के रूप में सदैव प्रयोग की जाती रही हैं।

साहित्य में कवियों द्वारा कल्पित कथाओं में शुद्ध कल्पना से समाज या सामाजिक घटनाओं से धार्मिक आर्थिक राजनीतिक आदि परिस्थितियों से लेखक की स्वतः मानसिक वृत्ति या अनुभव से, प्रकृति से, सामग्री लेकर उपयोग किया जाता है। इसी सामग्री के आधार पर सूक्ष्म रूप से साहित्यिक विषयों को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है :—

(१) कथात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) भावात्मक। कथात्मक विषयों

१—कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। सा० दर्पण, परिच्छेद, ३३२ श्लोक